हजारीप्रसाद द्विवेदी

अस्तर पर मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य छपा है—जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज लिख रहा है। भारत में लेखनकला का यह सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

हजारीप्रसाद द्विवेदी

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

साहित्य अकादेमी

अनुक्रम

1

जीवनी, व्यक्तित्व और युग

पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 (सन् 1907 ई०) को उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले के आरतदुबे का छपरा, ओझवलिया नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। द्विवेदी जी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था। 'हजारीप्रसाद' नाम पड़ने के पीछे एक मनोरंजक प्रसंग है। शांतिनिकेतन से 15-6-43 को बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम लिखे पत्र में द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "जिस दिन मेरा जन्म हुआ उसी दिन किसी मुक़दमे की विजय में घरवालों को बारह सौ रुपये मिल गए। उसकी खुशी में मेरा मूल नाम भुलवा दिया गया और मदरसे के रजिस्टर से लेकर विशाल भारत के पन्नों तक में दो सौ कम करके हजार रुपए की स्मृति को ढोने वाला हतभाग्य नाम ऐसा प्रसिद्ध हुआ कि लक्ष्मी देवी ने क्रोधवश शाप दे दिया कि 'हजारी' त्व से आगे तुम इस जन्म में नहीं बढ़ सकते।"[1]

अन्यत्र अपने एक 'आत्मपरिचय' में वे लिखते हैं—

> "विक्रम की बीसवीं शताब्दी की दूसरी तिहाई खत्म भी नहीं होने पायी थी कि धराधाम में अवतीर्ण हो गया। जन्म उसी अभुक्त-मूल नक्षत्र में हुआ था, जिसमें पैदा होने की सज़ा के रूप में, कहते हैं, बाबा तुलसीदास के माता-पिता ने जनमते ही उन्हें कहीं फेंक दिया था। हजारीप्रसाद तुलसीदास से अधिक भाग्यशाली हैं। पहले जन्म के बाद माँ-बाप ने शांति स्वस्त्ययन के बाद उसे स्वीकार कर लिया; पर द्विजत्व की प्राप्ति के बाद अर्थात् विश्वविद्यालय के समावर्तन के पश्चात मातृभूमि वाले प्रांत ने जो उठाकर बाहर फेंका सो अभी बंगाल में ही पड़ा है। अभी भी जीता चल रहा है और आदमी सब मिलाकर बुरा नहीं है। भाग्य का साँढ़ जन्म से ही है। क्योंकि बूढ़ों ने

---

1. पत्र : हजारीप्रसाद द्विवेदी : (सं०) मुकुन्द द्विवेदी, पृ० 63

उसे जो नाम शुरू में दिया था, वह एक जबरदस्त घटना के कारण हमेशा के लिए विस्मृति के अपार सागर में डूब गया। कहीं से घर वालों को हजार रुपये की आमदनी हो गई और जनसाधारण ने इस अपरम्पार धनराशि के ऐतिहासिक महत्त्व को स्थानीय बना रखने के लिए 'हजारी' नाम दे दिया। आदमी, जैसाकि शुरू में ही कहा गया है, बुरा नही है; थोड़ा कृतज्ञ भी है। इस डेमोक्रेसी के खतरे के युग में भी जनसाधारण के दिए हुए नाम को 'प्रसाद' के रूप में वह अब भी ढोए जा रहा है, यद्यपि जन्म के बाद अब तक उसका यह नाम 'Contradiction in terms' ही रहा है। इस युग में यह कम कृतज्ञता की बात नही कही जाएगी। सो ऐसा है यह हजारीप्रसाद।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में द्विवेदी जी की आर्थिक स्थिति स्पष्ट है। 1934 से '45 के बीच बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गए उनके अनेक पत्रों में उनके आर्थिक कष्टों और जीवन संघर्षों की झलक मिलती है। इस सन्दर्भ में 19-9-45 को चतुर्वेदी जी के नाम लिखा गया उनका लम्बा पत्र एक प्रामाणिक दस्तावेज है, जिसमें उनके आरम्भिक जीवन की भी एक हल्की-सी झाँकी है। इस पत्र का एक अश नीचे उद्धृत है :—

"प्रिंसिपल ध्रुव वाली घटना मैं आपको सुना देता हूँ। परन्तु इसे अभी छापिए नही। ध्रुव जी अब स्वर्गीय हो गए हैं। और मेरे साथ जो घटना हो गई वह शायद आकस्मिक ही थी, स्वभाव से वे दयालु ही थे। बात यों हुई कि मैं संस्कृत कालेज मे पढ़ता था। इतना आप ध्यान में रखें कि हिन्दू विश्वविद्यालय का संस्कृत कालेज न होता तो मैं शायद कुछ भी पढ़ नहीं सकता था। मैंने इधर-उधर से सीखकर थोड़ी अंग्रेजी पढ़ी और एडमिशन की परीक्षा में बैठा। प्रथम श्रेणी मे पास हो गया। हिन्दू विश्वविद्यालय के सेंट्रल हिन्दू कालेज मे मैं बड़े उत्साह से इंटरमीडिएट मे पढ़ने गया। मेरे घर की आर्थिक अवस्था की बात न कहना ही ठीक है। मुझे याद आता है कि पिताजी ने बड़ी कठिनाई के बाद गाँव के एक व्यक्ति से चालीस रुपये उधार लिए थे। यह मेरी इण्टरमीडिएट की भर्ती करायी की प्रथम बलि थी। मैं इसके बाद केवल क्लास में बैठता और फीस नही देता। हिन्दू विश्वविद्यालय मे उन दिनों बहुत से ग़रीब शिष्य थे, जबरदस्ती क्लास में बैठा करते थे। साल के अन्त में ध्रुव जी और मालवीय जी की कृपा से उनका

1. दूसरी परम्परा की खोज, नामवर सिंह, पृ० 23-24.

उद्धार हो जाता था। मैं भी उसी श्रेणी में था। कई बार चेतावनी मिली पर मेरे पास एक कौड़ी नहीं थी। संस्कृत कालेज में 15 रुपये वृत्ति मिलती थी और 5 रुपये का एक ट्यूशन करता था। कुछ खाता था, कुछ बचाकर घर भेज देता था। घर की अवस्था बड़ी दयनीय थी, आज भी याद करता हूँ तो रोएँ खड़े हो जाते हैं। साल के अन्त में मेरा नाम कट गया। मैंने सुना था कि ध्रुव जी के पास जाने से सब ठीक हो जाता है। मैं डरते-डरते प्रिंसीपल ध्रुव के कमरे में गया। वे कुछ झल्लाए हुए बैठे थे, शायद मेरे जैसे और भी लक्ष्मी के त्यक्त पुत्र उनकी सेवा में हाजिर हो चुके थे। मैंने अपनी कहानी सुनाई। बीच में ही झल्लाकर बोल उठे—जाओ, मैं नहीं सुनना चाहता। यूनिवर्सिटी ग़रीबों के लिए नहीं है। जाओ ईंटा ढोओ। मेरा अनुमान है कि वे किसी कारण गुस्से में थे। नहीं तो उनका स्वभाव दयालु था, परन्तु मुझे तो जैसे बाण लग गया। मैंने आधी बात जहाँ-की-तहाँ छोड़ दी और उठकर प्रणाम करके तुरन्त लौट आया। वे दरवाज़े तक मुझे जाते देखते रहे। सम्भवतः मुझे पागल समझा। मैं अपने संस्कृत कालेज के होस्टल में—जिसे विश्वविद्यालय के धनी-मानी विद्यार्थी 'अस्तबल' कहा करते थे—लौट आया और खूब रोया। मेरी पढ़ाई वहीं रुक गई। मेरे एक अध्यापक ने कहा कि चलो मैं तुम्हें फिर से ध्रुव जी के पास ले जाता हूँ। गरज पड़ती है तो सौ बार जाना होता है, पर मेरी रीढ़ टूट चुकी थी। मैं नहीं गया। मालवीय जी के पास जाने की भी हिम्मत नहीं हुई। बाद में मैंने केवल अंग्रेज़ी लेकर परीक्षा दी। संस्कृत के शास्त्री के पास विद्यार्थी केवल अंग्रेजी लेकर बी. ए. तक की परीक्षा दे सकते थे। वह भी एक मज़ेदार कहानी है। परीक्षा में फीस बहुत कम लगती थी पर उतना दे सकने लायक पैसा भी मेरे पास नहीं था। मेरे पास ओढ़ने के लिए कपड़े भी नहीं थे। मुझे किसी से माँगने की कला नहीं आती थी। सो मैंने बगल में पोथी दबाई और कथा बाँचने चला गया। मेरे एक मित्र थे। श्री सीताराम द्विवेदी। इस अगस्त आन्दोलन में वे गिरफ्तार हुए और जेल में ही स्वर्ग सिधार गए। उन्होंने कोआथ (आरा) में मेरी कथा बैठा दी। वे खुद आर्यसमाजी थे पर मेरी सहायता के लिए उन्होंने इस बात की परवाह नहीं की। कथा सात दिन तक हुई। और आठवें दिन चढ़ावा चढ़ा। 35 रुपए, एक रजाई, कुछ साड़ियाँ, कुछ कपड़े, कुछ धोतियाँ और प्रचुर अन्न मुझे मिला। रजाई कोआथ के हकीम बन्धुओं ने दी थी। मेरे जीवन में इससे बड़ी सहायता न कभी मिली

> और न मिलेगी। आप आसानी से समझ सकते हैं कि साड़ियों और धोतियों का मेरे घर में कैसा स्वागत हुआ होगा। 35 रुपए तो मेरे लिए बहुत बड़ी सिद्धि थी। सो मैं इंटरमीडिएट की नदी पार कर गया। आचार्य पास करने के बाद मैंने एक बार और कथा बाँची थी। उसमे 68 रुपए मिले थे। मेरे परम मित्र बाबू बवन सिंह ने इसकी आयोजना की थी। ये दो कथाएँ मैने बाँची है। सोचता हूँ कि थोड़ा बूढ़ा हो जाऊँ तो अपने जीवन के दुःखों और उनको दूर करने में सहायता देने वालों का संस्मरण लिखूँ पर जब सूची पर ध्यान देता हूँ तो वह बहुत विराट मालूम होती है। पर लिखूँगा जरूर।"[1]

लेकिन द्विवेदी जी ने अपने जीवन की यह संघर्ष-कथा लिखी नहीं। उनके पत्रों में और अन्य रचनाओं में इसके संकेत मात्र है। इन संकेत सूत्रों के आधार पर कोई प्रतिभाशाली जीवनीकार उनकी अद्भुत जीवनी लिख सकता है। द्विवेदी जी ने अपने व्यक्तित्व को अपनी अनेक कृतियों में, अनेक प्रसंगों में बड़ी कलात्मकता के साथ दूसरों के माध्यम से व्यक्त किया है। कहना कठिन है कि कहाँ उनके चरित्र हैं, कहाँ वे स्वयं। कितने उनके चरित्र हैं और कितने वे स्वयं। अपने पत्रों में तो वे अपने को सीधे-सीधे व्यक्त करते हैं पर निबन्धों और खास कर उपन्यासों में उनकी आत्मव्यंजना बहुत गूढ़ है। उनके सभी उपन्यासों में और खास कर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रेम की जो एक अदृश्य अंतःसलिला प्रवाहित है वह स्वयं द्विवेदी जी की नहीं है, यह कौन बताएगा! द्विवेदी जी बार-बार 'भीतर के देवता' की चर्चा करते है और साथ ही 'लोकापवाद' की भी। क्या उनके भीतर का देवता लोकोपवाद के भय से मुखर नहीं हो सका? कैसे पता चलेगा! बातों को एक अद्भुत मोहक आवरण में ढककर पेश करना द्विवेदी जी की आदत है। उनके उपन्यासों में, सत्य और कल्पना की एक विचित्र लुका-छिपी चलती रहती है। द्विवेदी जी के भीतरी व्यक्तित्व की जो सूक्ष्म अभिव्यक्ति उनके सम्पूर्ण लेखन में हुई है, उसके विस्तृत विश्लेषण का अवकाश इस छोटी-सी पुस्तक में नहीं है। अत: यहाँ कुछ जिज्ञासापूर्ण संकेत मात्र पर्याप्त हैं।

द्विवेदी जी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने ग्रामीण परिवेश मे ही हुई। सन् 1920 में उन्होंने वसरियापुर के मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् 1923 में वे विद्याध्ययन के लिए काशी आए और इसी साल उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रवेशिका

---

1. पत्र : हजारीप्रसाद द्विवेदी, (सं०) मुकुन्द द्विवेदी, पृ० 71-72

परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1927 में उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एडमिशन (हाई स्कूल) परीक्षा उत्तीर्ण की। 1927 में ही उनका विवाह श्रीमती भगवती देवी के साथ हुआ जिनसे सात संतानें हैं—चार पुत्र और तीन पुत्रियाँ। 1929 ई० में उन्होंने इंटरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण की। 1929 में ही उन्होंने संस्कृत साहित्य में शास्त्री और 1930 में ज्योतिष विषय लेकर शास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त की। ये दोनों उपाधियाँ उन्होंने प्रथम श्रेणी में प्राप्त कीं। काशी में द्विवेदी जी के ज्योतिष के गुरु पं. रामयत्न ओझा थे जिन्हें द्विवेदी जी ने पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे उपर्युक्त पत्र में बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है।[1] द्विवेदी जी की स्कूली शिक्षा यही और इतनी ही है। इसके बाहर उन्होंने जो कुछ अर्जित किया वह अपने गहन स्वाध्याय और व्यापक जीवनानुभव से। द्विवेदी जी की कृतियों के पाठक जानते है कि वे मानव जीवन को बहुत महत्त्व देते है। उसे देवता का मंदिर कहते हैं। उन्हें मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा और उसकी अपराजेय जययात्रा में में दृढ़ विश्वास है। यह दृढ़ विश्वास ही द्विवेदी जी को ज्ञान और पांडित्य के क्षेत्र में निरन्तर उत्कर्ष की ओर प्रवृत्त करता रहा और उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया वह किसी की कृपा से नहीं बल्कि अपने ही श्रम और अपनी ही भीतरी ऊर्जा के बल पर।

8 नवम्बर, 1930 ई० को द्विवेदी जी ने शांतिनिकेतन में हिन्दी अध्यापक के रूप में कार्य आरम्भ किया। इस तिथि को वे अपने जीवन में बहुत महत्त्व देते थे और इसे अपनी द्विजत्व प्राप्ति की तिथि कहते थे। जैसा कि वह 23 अक्तूबर, 1973 को शिवमंगल सिंह 'सुमन' के नाम लिखे अपने पत्र में कहते हैं :

> "आप जानते ही हैं कि 6, 7, और 8 नवम्बर मेरे द्विजत्व प्राप्ति की तिथि है। मैं शांतिनिकेतन के लिए 6 को चला था, 7 को पहुँचा और 8 को काम शुरू किया था। इन तिथियों को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण समझता हूँ।"[2]

द्विजत्व की प्राप्ति अर्थात दूसरे जन्म की प्राप्ति। द्विवेदी इस तिथि को दूसरे जन्म की प्राप्ति क्यों मानते थे, यह उन्ही के शब्दों में पढ़िए, उसी पत्र मे जो 19-9-45 को प. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम लिखा गया था। द्विवेदी जी लिखते हैं—

> "जीवन मे 'टर्निग पाइंट' की बात आपने पूछी है। मेरे जीवन की सबसे बड़ी घटना शांतिनिकेतन मे गुरुदेव का दर्शन पाना है। न जाने किस पूर्व पुण्यफल से मुझे यह सौभाग्य मिला था। दर्शन पा सकना ही परम पुण्य का फल है, परन्तु मुझे तो स्नेह मिला था। बाद में 'गुरुवर' के दर्शन मिले। आहा! भागीरथी की निर्मल जलधारा के समान उस

---

1. वहीं, पृ० 73-74
2. वही, पृ० 123

> प्रेमिक महापुरुष का साहचर्य कितना आह्लादकर था, इस बात को वही जान सकता है जिसने कभी उस रस का अनुभव किया हो।"[1]
> "रवीन्द्रनाथ को देखने का जिस दिन मुझे अवसर मिला वह दिन मेरे अनेक जन्म के पुण्यों का फल था। मैंने बिल्कुल नयी दृष्टि और नया विश्वास पाया। दोष मुझमें अनेक है। सब ठीक से छिपे हों ऐसी बात नहीं है। कितनी बातें जानो फिर भी उन्हें सुधार सकने की क्षमता नही है। इसलिए मैं रवीन्द्रनाथ को जितना ग्रहण करना चाहिए उतना ग्रहण नहीं कर सका। परन्तु उनके दर्शन से मेरे अन्तर मे निश्चित रूप से आलोड़न हुआ था और कुछ-कुछ मैल जरूर गिर गई थी।"[2]

द्विवेदी जी ने रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में बहुत से लेख लिखे हैं जो उनकी पुस्तक 'मृत्युंजय रवीन्द्र' में संकलित है। इस पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं :

> "इन पंक्तियों के लेखक को लगभग बारह वर्ष तक उनके निकट सम्पर्क मे रहने का अवसर मिला था। उनका जीवन बहुत ही संयमित और प्रेरणादायक था। उनके निकट जाने वाले को सदा यह अनुभव होता था कि वह पहले से अधिक परिष्कृत और अधिक बड़ा होकर लौट रहा है। बड़ा आदमी वह होता है जिसके सम्पर्क में आने वाले का अपना देवत्व जाग उठता है। रवीन्द्रनाथ ऐसे ही महान पुरुष थे।"

शांतिनिकेतन में द्विवेदी जी गुरुदेव के अतिरिक्त बाङ्ला, हिन्दी और अंग्रेजी के अन्य विद्वानों के सम्पर्क में भी आए। आचार्य क्षितिमोहन सेन, नन्दलाल बसु, विधुशेखर शास्त्री, सी. एफ. ऐन्ड्रूज इनमें प्रमुख थे। यहीं रहते हुए वे बनारसी दास चतुर्वेदी के भी विशेष सम्पर्क में आए। चतुर्वेदी जी के बारे में वे अपने उसी 19-9-45 वाले पत्र में लिखते हैं :

> "मेरे साहित्यिक गुरु तो अनेक हैं पर जिनकी एक चिट्ठी ने मेरे अन्दर अपूर्व जीवनी शक्ति भर दी थी उनको मैं क्या कहूँ? उन दिनों मैं अज्ञात अख्यात लेखक था। रवीन्द्रनाथ की कविताओं पर एक लेख लिखकर 'विशाल भारत' मे छपने को भेजा था। 2 जनवरी को मुझे एक पत्र मिला कि 'आप हमारे जैसे बहुतेरों को पीछे छोड़ गए है', मैं आश्चर्य से उस पत्र को बार-बार पढ़ता रहा। उस दिन मुझे एक नयी शक्ति का अनुभव हुआ। आपको नहीं मालूम कि उस एक चिट्ठी ने

---

1. वही, पृ० 73
2. वही, पृ० 74

> मुझे कितना बल दिया था। उसके एक-एक शब्द में प्रेम और प्रेरणा का ज्वार था। साहित्य क्षेत्र में आप मेरे गुरु हैं। मैं कृतज्ञतापूर्वक आपको प्रणाम करता हूँ।"[1]

शांतिनिकेतन में द्विवेदी जी बीस वर्ष (1930 से 1950 ई०) रहे। उनके निर्माण में इस विद्या केन्द्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है जिसे द्विवेदी जी बार-बार स्वीकार करते हैं। गुरुदेव के इसी आश्रम में रह कर उन्होंने अपने को माँजा, सँवारा तथा अपने पांडित्य को एक व्यवस्थित दृष्टि दी। यहाँ रहते हुए उन्होंने अभिनव भारती ग्रंथमाला का सम्पादन (कलकत्ता, 1940 से 46 तक) तथा विश्वभारती पत्रिका का सम्पादन (1941 से 47 तक) किया। 1946 में वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कराची अधिवेशन की साहित्य परिषद के अध्यक्ष रहे तथा 1948 में अखिल भारतीय ओरिएंटल कांफ्रेंस के दरभंगा अधिवेशन के हिन्दी विभाग के सभापति रहे। 1945 से 50 ई० तक वे हिन्दी भवन, विश्वभारती के संचालक रहे। 1949 ई० में उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय ने सम्मानार्थ 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि प्रदान की। शांतिनिकेतन काल में ही द्विवेदी जी ने अपने अनेक ग्रंथों की रचना की। 1930 ई० के आसपास उनका 'सूर साहित्य' प्रकाशित हुआ। 1940 में 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'। 1941-42 में प्रसिद्ध आलोचना पुस्तक 'कबीर' और 1946 में विख्यात उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा'।

1950 में द्विवेदी जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफ़ेसर अध्यक्ष के रूप में आए। काशी आने का निमन्त्रण तो उन्हें दो वर्ष पूर्व ही मिला था और वे भीतर से आना भी चाहते थे पर काशी में उनका विरोध भी कम नहीं था। इधर निमन्त्रण मिला, उधर काशी से धमकी भरे पत्र भी आने शुरू हो गए। शिवमंगल सिंह 'सुमन' को लिखे गए 18-8-48 के पत्र में द्विवेदी जी इस स्थिति का बयान करते हैं :

> "काशी से कुछ ऐसे पत्र आए हैं और अब भी आ रहे हैं जो बहुत घृणास्पद हैं। 'घृणास्पद' शब्द मैं बड़ी व्यथा के साथ व्यवहार कर रहा हूँ। इनके लिखने वालों में कहीं कोई मनुष्योचित भाव है ही नहीं। केवल निरुत्साहित करना, धमकी देना, अखबारी कतरनें भेजना, गाली-गलौच करना, यही क्या साहित्यिकता है? आपको आश्चर्य होगा कि इनमें एक सज्जन ऐसे हैं जो वृद्धावस्था में प्रपंच छोड़ने के उद्देश्य से काशीवास कर रहे हैं। केवल इन पत्रों के कारण मन में आता था कि एक बार स्वीकार कर लूँ। मगर फिर सोचा कि यह भी

---

1. वही, पृ० 73

अमर्ष और क्रोध का निर्णय होगा। मनुष्य बनना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।···

बात यह हुई है कि काशी के वाइस चांसलर ने रथी बाबू (रवीन्द्रनाथ के पुत्र) को एक व्यक्तिगत पत्र लिखा था। उसमें कहा था कि मुझे कौंसिल ने आपको इस प्रकार का अनुरोध करने को कहा है कि आप द्विवेदी जी को, जो सुप्रसिद्ध विद्वान हैं, विश्वविद्यालय का प्रोफेसर-शिप स्वीकार करने की छूट दें। इससे हमारा हिन्दी विभाग शक्ति-शाली होगा···इत्यादि। मुझे इसकी कोई व्यक्तिगत सूचना नहीं मिली। झा साहब का पत्र बहुत अच्छा था और उनके प्रस्ताव करने का ढंग उचित भी था और उनके गौरव के उपयुक्त भी। अगर मुझसे उन्होंने सीधी बात की होती तो मेरे लिए सचमुच धर्मसंकट उपस्थित हो जाता। यहाँ रथी बाबू, सुरेन बाबू और अनिल बाबू ने मुझसे बहुत भाँति से कहा कि आपके चले जाने से संस्था को नुकसान पहुँचेगा। रथी बाबू ने कहा कि आप जाना चाहेंगे तो हम बाधा नहीं देंगे पर हमारी आन्तरिक इच्छा है कि आप हमारे ही साथ रहें। इन लोगों ने यह भी आश्वासन दिया है कि शक्ति भर वे मेरे ग्रासाच्छदन की भी व्यवस्था करेंगे। अब आप समझ सकते हैं कि मैं कैसी मानसिक स्थिति में रहा। घर के लोग बराबर काशी जाने को कह रहे थे। यहाँ भी सभी लोग—अधिकारियों से बाहर के लोग, जैसे गुसाईं जी, प्रधान जी, क्षिति बाबू सभी कहते थे कि काशी जाना अच्छा है। बाल-बच्चे हैं, घर-द्वार है, इस अल्पवेतन के चक्कर में कब तक रहोगे इत्यादि। पर मेरा मन रथीबाबू की बात के प्रति-वाद के लिए एकदम तैयार नहीं था। केवल काशी से आए हुए घृणा-स्पद चिथड़े मुझे कभी-कभी वहाँ जाने के लिए उत्तेजित कर देते थे। आपके पत्र की प्रतीक्षा में बहुत दिन रहा। पर जब वहाँ से कुछ सुग-बुगाहट नहीं मिली तो सोचा कि अन्तर्यामी जो कहें वही ठीक है। अन्तर्यामी चुप! न राम न गंगा। मैंने बहुत विनय की कि बाबा, कुछ तो बताओ। काशी जाना है। काशी जो मेरा स्वप्न है, जिसके एक-एक कण में आकर्षण है, एक-एक दर्शन में उन्माद है। गंगा की मनोहर उर्मियों से धौत वायु है, विश्वनाथ और अन्नपूर्णा की अहेतुक कृपा का प्रसाद है, उस काशी में जाना है। अन्तर्यामी चुप! भला आदमी जो सोया तो करवट तक नहीं बदला!

'लोकेर कथा दिसने काने

फिरिसने आर हजार टाने
येन रे तोर हृदय जाने हृदये तोर आपन राजा'

अब अन्तर्यामी भी जागे। फिर गुरुदेव बोले—मत जाओ। सब तै हो गया। जो बात स्वार्थ की दृष्टि से देखने से इतनी उलझी हुई लग रही थी वही कर्त्तव्य की दृष्टि से देखने से एकदम साफ़ हो गई। इसमें क्या सोचना है भला! मेरे लिए दोनों ही संस्थाएँ आराध्य हैं। दोनों का लक्ष्य एक है, मेरे भीतर कर्तव्य का द्वन्द्व क्यों उपस्थित हो।"[1]

इस प्रकार 1948 में द्विवेदी जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निमन्त्रण पर न आ सके किन्तु दो वर्ष बाद पुनः जब निमन्त्रण मिला तो द्विवेदी जी फिर पेसोपेश में पड़े। 30-5-50 को सुमन जी के नाम पत्र में द्विवेदी जी अपनी मनःस्थिति के बारे में लिखते हैं :

"अपनी स्थिति आपको बता दूँ। पिछले दो-तीन वर्षों से मुझे बाहर से कुछ निमन्त्रण मिले हैं और हर बार विश्वभारती के अधिकारियों का आग्रह भी मुझे रोक लेने के पक्ष में बढ़ता गया है। पिछली बार बिहार सरकार ने बुलाया था। उनका पत्र नवम्बर में आया। उन्होंने ग्रेड बदलकर मुझे 755-30-1000/- आफर किया। मैं उन दिनों बीमार था। रथी बाबू ने स्वयं रोकने का प्रयत्न किया और मेरे लिए उन्होंने एक ऐसा प्रस्ताव पास कराया जो विश्वभारती की आर्थिक स्थिति देखते हुए कठिन ही था। मुझे 400+30/- वेतन दे रहे थे। अब और $3\frac{1}{2}$ हजार रुपए वार्षिक एक्स्ट्रा रिमउनरेशन के बढ़ा दिए। सो भी अप्रैल 1949 से। इस समय हिसाबन मुझे सवा सात सौ के आसपास मिलते हैं। यह वेतन विश्वभारती में सबसे अधिक है। श्री क्षितिमोहन बाबू और नन्दलाल बाबू से भी अधिक। यह मुझे रोक रखने के आग्रह का आभास आपको देगा।

मैं बिहार नहीं गया। विश्वभारती के विश्वविद्यालय रूप में स्वीकृत होने की आशा है। मुझे 1000/- वाले ग्रेड में रखेंगे, यह यहाँ के अधिकारी कह चुके हैं।

मकान मेरा बड़ा किया जा रहा है। आप जो देख गए थे उसमें दो और कमरे बढ़ाए गए हैं। एक स्नानागार और शौचालय भी। भाड़ा पहले 8/- देता था। अब शायद कुछ बढ़ जाए। 6 बच्चे करीब मुफ्त शिक्षा पाते हैं। यह स्थिति है।

अब काशी विश्वविद्यालय के विषय में अपना मत कहूँ। काशी का वह

1. वही, पृ० 130-31

विश्वविद्यालय मेरी माता के समान है, विश्वभारती भी। दोनों ने मुझे ज्ञान दिए। मेरे दो महान गुरुओं में एक वहां के प्रतिष्ठाता हैं, एक यहाँ के। फिर भी मैं कुछ दिनों से यह अनुभव करता हूँ कि हिन्दी भाषी क्षेत्र में रहूँ तो शायद काम करने का अधिक व्यापक क्षेत्र मिले। यह मैं अनुभव करने लगा हूँ। हो सकता है कि यह ठीक न हो। और काशी से बढ़कर और कौन स्थान हो सकता है ? वहाँ विरोध है। मैं जानता हूँ कि वह देर तक नहीं टिकेगा। पर कहीं कोई ऐसी बात है जो मुझे काशी की ओर जाने को उत्साहित नहीं कर रही है। कभी कभी सोचता हूँ कि क्या ऐसी कोई व्यवस्था संभव नहीं हो सकती कि जो लोग अध्यक्ष पद चाहते हैं, वे अध्यक्ष हो जायँ और मुझे चुपचाप पढ़ाने-लिखाने का ही काम दिया जाय और मेरा काम सीधे वाइस चांसलर के अधीन रहे। मुझे धीरेन्द्र वर्मा जी ने बताया था कि इलाहाबाद में एक ऐसी नियुक्ति हुई है, शायद इतिहास विभाग में। मैं चाहता हूँ कि मेरा संबंध केवल विद्या, विद्वानों और विद्यार्थियों से मित्रता का ही संबंध रहे। प्रतिद्वंद्विता का नहीं।

रुपया तो मुझे चाहिए ही। आपको इस विषय में क्या बताऊँ। शायद आपको यह बताने की जरूरत नहीं कि यदि बिना रुपया के काम चल जाता तो मैं रुपये पैसे के लेन-देन के चक्कर में कभी नहीं पड़ता। पर ग़रीब का सबसे भयंकर शत्रु उसका पेट होता है। ग़रीब का दूसरा दुश्मन उसका सिर है जो झुकना नहीं चाहता। जो झुकना चाहता है वह भी शत्रु है।"[1]

इस द्वन्द्व की मनःस्थिति में द्विवेदी जी ने काशी आने का निर्णय किया और 1950 में काशी आये। काशी में उनके विरोधियों ने उन्हें भीतर से बहुत परेशान किया। इतना कि वे शांतिनिकेतन छोड़कर पछताने लगे। ये विरोध निजी स्वार्थों से प्रेरित बहुत ही तुच्छ स्तर के थे। इनसे द्विवेदी जी पीड़ित तो हुए पर टूटे नहीं। साहित्य-साधना चलती रही। 1950 में उनकी पुस्तक 'साहित्य का साथी' प्रकाशित हुई। इसी वर्ष लखनऊ विश्वविद्यालय में 'साहित्य का मर्म' विषय पर उनके तीन व्याख्यान हुए। 1952 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना में उन्होंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर पाँच व्याख्यान दिये जिनका संग्रह 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नाम से प्रकाशित हुआ। इस काशी काल में ही 'हिन्दी साहित्य', 'कल्पलता', 'विचार प्रवाह' आदि उनकी कई कृतियाँ

---

1. वही, पृ० 128

प्रकाशित हुई। 1952 में उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलेखों की खोज की तथा 1954 में साहित्य अकादेमी मे प्रकाशित 'नेशनल बिबलियोग्राफी' का निरीक्षण किया। 1950 से 53 तक वे विश्वभारती विश्वविद्यालय की एक्जिक्यूटिव कौंसिल के सदस्य रहे। 1952-53 में वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रहे। 1955 में वे अखिल भारतीय हिन्दी परिषद के अध्यक्ष रहे तथा इसी वर्ष राजभाषा आयोग के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य हुए। 1957 में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधि से सम्मानित किया गया।

एक बार फिर भाग्य ने पलटा खाया। काशी में प्रतिद्वंद्वियों का जो विरोध भीतर भीतर पल रहा था उसने अपना राजनीतिक चमत्कार दिखाया और द्विवेदी जी 1960 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निकाल दिये गये। दुखी हुए, अपमानित हुए पर लड़ाई नहीं लड़ी, अदालत में नहीं गये। सब कुछ सहन कर लिया। काशी छोड़ने के बाद द्विवेदी जी 1960 से 67 तक पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर-अध्यक्ष रहे। इस काल में 'कुटज' 'कालिदास की लालित्य योजना', 'चारुचन्द्रलेख' आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ प्रकाशित हुईं। 'कुटज' और देवदारु' शीर्षक निबंधों में द्विवेदी जी की तत्कालीन मन:स्थिति—काशी छोड़ने के बाद की मन:स्थिति, बहुत कलात्मक ढंग से व्यक्त हुई है। कुटज को वे 'उजाड़ का साथी'—'गाढ़े का साथी' कहते हैं—'शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत-शृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नहीं मिला होगा। कुटज ने उनके सन्तप्त चित्त को सहारा दिया था—बड़भागी फूल है यह ! धन्य हो कुटज, तुम गाढ़े के साथी हो।" इसी निबंध में वे आगे कहते हैं :

> "लेकिन दुनिया है कि मतलब, से मतलब रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया।" इस निबंध का अंत करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं—"दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छन्दावर्त्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडंबर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है।"

'देवदारु' शीर्षक निबंध में द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ़ जाति देखते आ रहे हैं, व्यक्तित्व देखने की उन्हें न आदत है, न परख है, सन्त लोग चिल्लाकर थक गये

कि 'मोल करो तलवार को, पड़ा रहन दो म्यान', मगर तलवार बन्द ही रह गये, म्यान के मोल-भाव से बाजार गर्म है। व्यक्तित्व को यहाँ पूछता ही कौन है ?"

इस निबन्ध का अंत करते हुए वे कहते हैं, "जमाना बदल रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदान में जा बसे हैं, लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी।" द्विवेदी जी जिन परिस्थितियों में काशी छोड़ने को मजबूर हुए उन परिस्थितियों को और द्विवेदी जी के व्यक्तित्व को निकट से जानने वाले लोग इस बात की ताईद करेंगे कि उपर्युक्त पंक्तियों में वे अपनी ही वेदना को अभिव्यक्ति दे रहे थे। अपने ही मन को समझा-बुझा रहे थे।

अक्तूबर 1967 ई० में द्विवेदी जी पुन: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। मार्च 1968 में उनकी नियुक्ति विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर हो गयी जहाँ वे लगभग दो वर्ष रहे। 25 फरवरी 1970 को वे रेक्टर पद से मुक्त हुए और कुछ दिनों के लिए 'हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' योजना के निदेशक बने। कुछ ही महीनों बाद वे उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी के अध्यक्ष हुए और बाद में हिन्दी संस्थान के पुनर्गठन के पश्चात् उन्होंने इस संस्थान के उपाध्यक्ष का पद ग्रहण किया। इस बीच उनके दो उपन्यास—'पुनर्नवा' (1973 ई०) और 'अनामदास का पोथा' (1976 ई०) प्रकाशित हुए। 1979 के शुरू में द्विवेदी जी गंभीर रूप से अस्वस्थ हुए और चिकित्सा के लिए अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, दिल्ली ले जाये गये। वहीं 18 मई 1979 ई० को उनके 'भीतर का देवता' 'महाकाल' में विलीन हो गया।

द्विवेदी जी ने व्योमकेश शास्त्री से नाम से भी कुछ रचनाएँ की हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' नामक उपन्यासों में इस नाम का उपयोग किया गया है। 'पुनर्नवा' उपन्यास पर एक बहुत अच्छा पत्र द्विवेदी जी ने व्योमकेश शास्त्री के नाम से लिखा है। यह पत्र जो 2-4-75 ई० को भीष्म साहनी के नाम भेजा गया था, स्वयं रचनाकार की दृष्टि से लिखा गया 'पुनर्नवा' की एक प्रामाणिक आलोचना है। 'आलोक-पर्व' में 'व्योमकेश शास्त्री उर्फ़ हजारीप्रसाद द्विवेदी' शीर्षक लेख लिखकर द्विवेदीजी ने अपने इस छद्मनाम का किस्सा बयान किया है।[1] महामना मालवीय जी के 'सनातन धर्म' नामक पत्र में द्विवेदी जी ने पहली बार इस छद्मनाम से अपने ज्योतिष गुरु पं. रामयत्न ओझा का विरोध करते हुए ज्योतिष पर एक लेख लिखा था। तब से यह नाम उनका अभिन्न हो

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खण्ड 9, पृ० 114

गया। समय-समय पर अपने को छिपाने के लिए वे इस छद्मनाम के आवरण का आजीवन इस्तेमाल करते रहे।

लम्बा, दोहरा शरीर। प्रशस्त ललाट। चौड़े कन्धे। खादी की धोती। कुर्ता। दोनों कन्धों से नीचे लटकती चादर। पान से भरा प्रसन्न मुख। कभी मुस्कराता, कभी ठहाका लगाता। कभी चिंतन मुद्रा में गंभीर। यह है द्विवेदी जी का बाहरी व्यक्तित्व—हृदय की अनुकृति बाह्य उदार। द्विवेदी जी ने अपने प्रिय कवि कबीर के व्यक्तित्व की बड़ी प्रशंसा की है। यहां तक कहा है कि हिन्दी के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक पैदा नहीं हुआ। स्वयं द्विवेदी जी भी व्यक्तित्व के धनी लेखक थे। उनके कबीर अगर 'वाणी के डिक्टेटर' थे तो वाक्शक्ति में द्विवेदी जी भी किसी से कम नहीं थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर एकाधिक बार लिखा है कि मनुष्य में एक बन्धनद्रोही व्याकुलता होती है और वह अपने उद्भव के समय से ही जड़ता पर विजय पाने के लिए, अपने को बन्धनमुक्त करने के लिए छटपटाता रहा है। जिन लोगों ने द्विवेदी जी को भाषण देते हुए देखा होगा उन्होंने खुद उनके व्यक्तित्व में भी इस छटपटाहट को ज़रूर लक्ष्य किया होगा। उनका व्याख्यान धीरे-धीरे गति पकड़ता था। फिर तो आवेग की एक धारा उमड़ती थी—हिमालय से धड़कती हुई स्रोतस्विनी की तरह। ऐसा लगता था जैसे कोई पक्षी अंतरिक्ष में उड़ जाना चाहता हो। वे बार-बार दोनों हाथ भाँजते, ऊर्ध्व की ओर उठाते थे। यह आवेग, यह कसमसाहट द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की केन्द्रीय विशेषता है। वे हमेशा जैसे कुछ अधिक कहना चाहते थे, शब्दों से कुछ अधिक व्यक्त करने के लिए कसमसाते थे। यही चित् का स्फुरण है—ऊर्ध्व की ओर गतिशील चित् द्वारा जड़त्व को दी गई चुनौती। जिसे द्विवेदी जी अपनी रचनाओं में बार-बार रेखांकित करते हैं।

द्विवेदी जी ने अपने सम्पूर्ण लेखन में 'फक्कड़ाना मस्ती' की बार-बार चर्चा की है और उसे बहुत महत्त्व दिया है। उनके कबीर 'सिर से पैर तक मस्त मौला' हैं। उनके बाणभट्ट घुमक्कड, मस्त जीव हैं। उनके सीदी मौला फक्कड़ चरित्र है। उनके सभी उपन्यासों के सभी विशिष्ट चरित्र इस गुण से विभूषित हैं। यह 'फक्कड़ाना मस्ती' द्विवेदी जी के लिए मानो एक कसौटी हो जिस पर वे अपने चरित्रों को कस रहे हों। इतना ही नहीं उनके फूलों और वृक्षों में भी फक्कडाना मस्ती है—चाहे वह अशोक हो या कुटज या देवदारु। यह फक्कड़ाना मस्ती द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की भी विशेषता है। इस विशेषता की जड़ों का विश्लेषण करते हुए द्विवेदी जी 'मेरी जन्मभूमि' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं:

> 'जिस गाँव में साहित्य चर्चा करने के लिए बैठा हूँ, उसका नाम ओझ-वलिया है। यह मेरी जन्मभूमि है। इस गाँव के एक हिस्से को 'आरत दुबे का छपरा' कहते हैं। यही वस्तुतः मेरी जन्मभूमि है, परन्तु वह

हमेशा से इस गाँव का हिस्सा ही रहा है। 'आरत दुबे' मेरे ही पूर्व पुरुष थे। उन्होंने ही इस छोटे हिस्से को बसाया था, पर बसने के लिए थोड़ी-सी भूमि बलिया गाँव के मालिक ओझा लोगों ने उन्हें माफ़ी में दे दी थी। अब दोनों ही हिस्से एक हो गये हैं। इस तरफ़ गाँव के नाम के साथ दो शब्द बहुत जुड़ते दिखते हैं—'अवली' पल्ली और 'छपरा'। छपरा की परम्परा पूरब में छपरा शहर तक जाकर समाप्त हो जाती है और 'अवली' ग्राम की परम्परा पश्चिम में 'बलिया' तक आती है। मेरा गाँव संयोग से छपरा और अवली का योग है। मुझे इन शब्दों में इस भूभाग का चिरन्तन इतिहास स्पष्ट रूप से समझ में आता है। वस्तुतः बलिया और छपरा नाम के नगरों के मध्यवर्ती भूभाग को गंगा और सरजू जैसी दो महानदियों का कोप बराबर सहते रहना पड़ा है। अधिकांश गाँव सचमुच ही छप्परों के बने हैं, क्योंकि हर साल गंगा की बाढ़ में उनके बह जाने की आशंका बनी रहती है। इस बाढ़ के कारण ही कई-कई गाँव प्रायः एक जगह झुण्ड बाँधकर बसने को बाध्य होते हैं। इन ग्रामों की 'अवली' को कोई भी पर्यवेक्षक आसानी से लक्ष्य कर सकता है। तो इस भूभाग का इतिहास ही निरन्तर बनते और मिटते रहने का है। इसीलिए यहाँ के निवासियों में एक प्रकार का 'कुछ परवा नहीं' भाव विकसित हो गया है। एक अजीब प्रकार की मस्ती और निर्भीकता इन लोगों के चेहरों पर दीखती है। विपत्ति के थपेड़ों से चेहरे सहज ही नहीं मुरझाते। कठिनाइयों में से रास्ता निकाल लेना इनका स्वभाव हो गया है।"[1]

ज्योतिष और व्याकरण का पंडित इतना सरस हो सकता है, द्विवेदी इसके विरल उदाहरण हैं। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सहृदय, तरल, परिहास प्रिय, उन्मुक्त व्यंग्य-विनोद प्रिय व्यक्तित्व है। आत्मव्यंग्य करने में वे आधुनिक लेखकों में सबसे आगे हैं। अपने ही ऊपर हँसना, अपना ही मज़ाक उड़ाना द्विवेदी जी की ऐसी विशेषता है जो उनकी आत्मवेदना को बड़ी गहराई से व्यक्त करती है। इस दृष्टि से 'अनामदास का पोथा' नामक उपन्यास की भूमिका पढ़ने लायक है। इस भूमिका में द्विवेदी जी 'नाम' के बारे में जो लम्बा तर्क-वितर्क, हास-परिहास, व्यंग्य और आत्मव्यंग्य करते हैं उसमें नाम की व्यर्थता और उस व्यर्थता की पीड़ा ध्वनित होती है। यह नाम के लिए दाँत निपोरने वालों पर व्यंग्य भी है और एक गहरा अवसाद तथा आत्मालोचन भी। द्विवेदी जी लिखते हैं :

---

1. दे०, 'अशोक के फूल' संग्रह

"पीछे की ओर देखता हूँ, विराट रिक्तता ! जो कुछ करता रहा हूँ वह सचमुच किसी काम का था ? अपनी सीमाओं, त्रुटियों, ओछाइयों को छिपाकर अपने को कुछ इस ढंग से दिखाना कि मैं सचमुच कुछ हूँ, यही तो किया है । छोटी-छोटी बातों के लिए संघर्ष को बहादुरी समझा है, पेट पालने के लिए छीना-झपटी को कर्म माना है, झूठी प्रशंसा पाने के लिए स्वाँग रचे हैं—इसी को सफलता मान लिया है । किसी बड़े लक्ष्य को समर्पित नहीं हो सका, किसी का दुख दूर करने के लिए अपने को उलीचकर दे नहीं सका । सारा जीवन केवल दिखावा, केवल भोंड़ा अभिनय, केवल हाय-हाय करने में बीत गया । तुलसीदास ने मेरे जैसे ही किसी को देखकर कहा होगा—"कोउ भल कहउ, देउ कछु, असि बासना न मन तैं जाई ।"

इस भूमिका में द्विवेदी जी ज्योतिष के पंडित होते हुए भी ज्योतिष पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं । अन्यत्र 28-10-48 को सुमन जी के नाम पत्र में द्विवेदी जी लिखते हैं :

'मैं अच्छा आस्तिक कभी नहीं रहा हूँ । परन्तु बुरा नास्तिक भी नहीं हूँ । बुरा आस्तिक दंभी होता है और बुरा नास्तिक अहंकारी । मैं तो सुमन जी, एक अद्‌भुत मिश्रण हूँ । मुझमें थोड़ा दंभ है, पर अहंकार कम है । कभी-कभी सोचता हूँ कि अहंकारी होता तो अच्छा था । अहंकारी अच्छा, दंभी नहीं ।"[1]

इस आत्मविश्लेषण के प्रसंग में द्विवेदी जी के दो निबंधों की चर्चा प्रासंगिक होगी जो उनकी मृत्यु के लगभग एक ही वर्ष पूर्व लिखे गये थे। एक निबन्ध फरवरी '78 का है जिसका शीर्षक है 'ज़िन्दगी और मौत के दस्तावेज़ । इस निबन्ध में द्विवेदी जी लिखते हैं :

'अपने छोटे-से जीवन में कितनी ही बार मुझे यह अनुभव हुआ है कि हम दो-चार वर्ष आगे तक का भविष्य भी नहीं जानते । दीर्घकालिक भावी योजना तो केवल बात-की-बात है । कई बार यह भ्रम हो जाता है कि मैं कुछ कर सकता हूँ, योजनाएँ बना सकता हूँ, उन्हें कार्यान्वित कर सकता हूँ और उसका सुफल भी प्रत्यक्ष देख सकता हूँ; परन्तु प्राय: ऐसा नहीं होता । मुझे बराबर यह अनुभव होता है कि योजना बनानेवाला कोई और है । भविष्य को रूप देने की शक्ति अन्यत्र निहित है । मनुष्य के भीतर जो इच्छाशक्ति है, वह थोड़ी दूर तक—बहुत थोड़ी दूर तक—ही स्वतन्त्र है । अंतिम रूप से किसी

---

1. पत्र : हजारीप्रसाद द्विवेदी : (सं०) मुकुन्द द्विवेदी, पृ० 125

इतिहास विधाता की योजना ही फलवती होती है।

इसी निबन्ध में आगे द्विवेदी जी लिखते हैं :

"सब कुछ देख-सुनकर यही लगा मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, कोई करा रहा है। मेरी योजनाएँ पड़ी रह जाती हैं और उस अज्ञात उपदेष्टा के इशारे पर चलने लगता हूँ। अफ़सोस करना बेकार है। शायद अफ़सोस करने में भी बहुत अधिक स्वतंत्र नहीं हूँ। इसीलिए मैं प्राय: कहा करता हूँ कि मैं शूद्र जाति का ब्राह्मण हूँ। जो कोई भी लिखता-पढ़ता है वह कर्मणा ब्राह्मण है; लेकिन ब्राह्मण भी चार प्रकार के हैं 1. वे जो अपनी योजना के अनुसार लिखते-पढ़ते हैं। इनको मैं 'ब्राह्मण' ब्राह्मण कहता हूँ। 2. वे जो 'युद्धं देहि' का बाना धारण किए हुए कलम ताने रहते हैं। इनको मैं 'क्षत्रिय' ब्राह्मण कहता हूँ। 3. वे जो अर्थोपार्जन के लिए कलम को तराजू की भाँति इस्तेमाल करते हैं। इनको मैं 'वैश्य'—ब्राह्मण कहता हूँ। 4. वे जो किसी दूसरे के इशारे से विनियुक्त होकर कलम घसीटते हैं। इन्हीं भाग्य-वंचितों को मैं 'शूद्र'—ब्राह्मण कहता हूँ। मैं इसी श्रेणी का हूँ।"[1]

दूसरा निबंध जनवरी 1978 का है, जिसका शीर्षक है—'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया।' इस निबंध का अंत करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं—

"भीष्म और द्रोण भी, द्रोपदी का अपमान देखकर भी क्यों चुप रह गये ? द्रोण ग़रीब अध्यापक थे, बाल-बच्चे वाले थे। ग़रीब ऐसे कि गाय भी नहीं पाल सकते थे। बिचारी ब्राह्मणी को चावल देकर दूध माँगने वाले बच्चे को फुसलाना पड़ा था। उसी अवस्था में फिर लौट जाने का साहस कम लोगों में होता है, पर भीष्म तो पितामह थे। उन्हें बाल-बच्चों की फ़िक्र भी नहीं थी, भीष्म को क्या परवा थी।··· इतना सच जान पड़ता है कि भीष्म में कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कहीं कोई कमज़ोरी थी। वह उचित अवसर पर उचित निर्णय नहीं ले पाते थे। यद्यपि वह जानते बहुत थे, तथापि कुछ निर्णय नहीं ले पाते थे। उन्हें अवतार न मानना ठीक ही हुआ। आजकल भी ऐसे विद्वान मिल जायेंगे, जो जानते बहुत हैं, करते कुछ भी नहीं। करने वाला इतिहास निर्माता होता है, सिर्फ सोचते रहनेवाला इतिहास के के भयंकर रथचक्र के नीचे पिस जाता है। इतिहास का रथ वह हाँकता है, जो सोचता है और सोचे को करता भी है।"[2]

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली—खण्ड 9, पृ० 112-114
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली—खण्ड 9, पृ० 251

द्विवेदी जी 'शूद्र'—ब्राह्मण नहीं थे। वे शुद्ध 'ब्राह्मण'—ब्राह्मण थे। वे भीष्म भी नहीं थे। बचपन में उनकी आर्थिक स्थिति द्रोण वाली जरूर रही। पर ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे अपने को आत्ममुग्ध होकर नहीं, आलोचनात्मक दृष्टि से देखते रहते थे। दूसरों की निगाह से अपने को तौल सकने की और अपने को भी कठघरे में रख सकने की तटस्थता और हिम्मत उनमें थी। द्विवेदी जी का यह गहन आत्ममंथन और निर्मम आत्मविश्लेषण उन्हें मध्यकालीन संत-भक्त कवियों की कोटि में ले जाता है। वे अपने को गौरवान्वित नहीं करते, आत्मछल नहीं करते। आत्मरूप को पहचानने और उसे सहज रूप में पेश करने की कोशिश करते हैं। तो यह है हजारीप्रसाद द्विवेदी की जीवनी और उनका व्यक्तित्व, उनके अपने ही शब्दों में।

अपनी पुस्तक 'सहज-साधना' के अन्तिम निबंध के अंत में द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "ये साधनाएँ बहुत उत्तम हो सकती हैं, व्यक्ति भावविह्वल अवस्था में परम पुरुष के चिन्मय और प्रेममय रूप का साक्षात् कर सकता है और विशुद्ध आनन्द की अवस्था भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु इससे समाज को क्या लाभ है? क्या इस साधना की पृष्ठभूमि में जो दर्शन है, वह हमारे सामूहिक उत्थान के लिए कुछ दे सकता है? मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो गलदश्रु भावुकता के साथ कह उठते हैं, 'वाह! भारतवर्ष की कितनी विपुल और विशाल साधना है!' क्या हुआ, जो दो-चार व्यक्ति परम-पद प्राप्त कर गये! संसार की समस्या तो इससे सुलझ नहीं जायेगी। आज भी सहस्रों व्यक्ति दाने-दाने को मुहताज हैं। आज भी रोग, शोक, अशिक्षा और कुशिक्षा के वात्या-चक्र में कोटि-कोटि जनता भटक रही है। इनके उद्धार के लिए विशाल पैमाने पर काम करने के लिए जो सुविधा हमें जड़-विज्ञान ने दी है, क्या उसका इस तत्त्ववाद से कोई सामंजस्य है? क्या पिण्ड में ब्रह्माण्ड समझने वालों की शब्द-साधना और सुरति-साधना ही देश की समूची जनता को अन्न और वस्त्र दे सकती है? क्या मतवाले मधुरभाव के साधकों की प्रेम रस से स्निग्ध वाणी उन घावों की मरहम बन सकती है, जो दीर्घकालीन दरिद्रता और कुशिक्षा के कारण गहराई में प्रवेश कर चुके है? क्या 'भूखे भजन न होंहि गोपाला' बहुत सच्चा वाक्य नहीं है? मैं समझता हूँ कि हम न तो इस बात की उपेक्षा कर सकते हैं कि हमारा मुख्य प्रश्न इस समय कोटि-कोटि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, और न हम यही भुला सकते हैं कि इस युग में जड़-विज्ञान ने इन

> समस्याओं को सुलझाने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन दिये हैं। व्यक्ति-मानव की समस्याओं का हल करना आज पर्याप्त नहीं है। समाज-मानव की समस्या ही हमारे विचारकों को अधिक व्याकुल और चिंतित बनाये हुए है। इसलिए यदि हम आज की दुनिया की इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, तो ये बड़ी-से-बड़ी साधनाएँ निरर्थक है।"

द्विवेदी जी ने जो उपर्युक्त प्रश्न उठाये हैं प्रस्तुत प्रसंग मे वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन प्रश्नों से पता चलता है कि द्विवेदी जी अपने युग और उसकी समस्याओं के प्रति कितने सजग थे और अपने प्राचीन ज्ञान को किस प्रकार प्रसंगानुकूल प्रश्नों के बीच रखकर परख रहे थे।[1] उनका सारा लेखन युग की समस्याओं के प्रति अत्यन्त सचेत लेखन है। 'शवसाधना' का रहस्य उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं :

> "शव की पीठ पर मंत्र-तंत्र से चाहे जितनी साधना की जाय जब तक उसका मुख साधक की ओर नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नहीं आया है, शव तब भी शव ही है, उसमें शक्ति का संचार नहीं हुआ है। शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है। प्राचीन ज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है।"

कहना न होगा, द्विवेदी जी प्राचीन ज्ञान के साधक हैं और वे निरन्तर इस बात को याद रखते हैं। उपन्यासों के प्रसंग में आगे स्पष्ट किया गया है कि उनके सभी उपन्यास अतीत को अपना विषय बनाते हैं पर द्विवेदी जी उन्हें अद्भुत प्रासंगिकता और पुनर्नवता प्रदान करते हैं। उन्होंने कहीं लिखा है कि अपने मृत बच्चे को छाती से चिपकाये रखनेवाली बन्दरिया कभी मनुष्य का आदर्श नहीं हो सकती। वे अपने सम्पूर्ण लेखन में अतीत के प्रति यही दृष्टि अपनाते हैं। अपने निबन्धों में किसी भी पर्व पर, किसी भी ऋतु पर, किसी भी फूल पर, किसी भी आत्मपरक घटना या विषय पर लिखते हुए वे आधुनिक समस्याओं की ओर अपने युग की चर्चा करने लगते हैं।

द्विवेदी जी ने 1927 ई. के आसपास से लिखना शुरू किया था और 1979 ई. तक—अपने जीवन के अन्तिम समय तक—वे रचना और आलोचना की दुनिया में सक्रिय रहे। द्विवेदी जी का यह युग स्वतन्त्रता पूर्व से लेकर स्वतन्त्रता के बाद तक का लगभग आधी शताब्दी का एक लम्बा युग है। उनके इस रचनाकाल के

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-5, पृ० 199

आरम्भिक वर्ष राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष से सम्बद्ध हैं। इन वर्षों की प्रमुख समस्या देश को आज़ाद कराने की—स्वाधीनता की समस्या थी। द्विवेदी जी के सम्पूर्ण लेखन और चिन्तन में इस स्वाधीनता की चेतना रची-बसी है। वे बार-बार 'स्वाधीनता' की, 'स्व-भाव' की चर्चा करते रहते हैं। आगे के अध्यायों में विभिन्न प्रसंगों में यह स्पष्ट किया गया है कि द्विवेदी जी की चेतना मूलतः विद्रोही चेतना है। उन्होंने कबीर, सूर आदि प्रमुख संत कवियों और संत-भक्ति काव्य के मूल में इस विद्रोही चेतना को रेखांकित किया है। आज तक की मनुष्यता का सारा विकास उनकी दृष्टि में, मानवीय असन्तोष और विद्रोह का ही परिणाम है। मनुष्य ने शुरू से अपने परिवेश के विरुद्ध क्रांति की है। साहित्य भी उनकी दृष्टि में मनुष्य का विद्रोह ही है—उसकी बेचैनी और दुर्दम जिजीविषा की अभिव्यक्ति। द्विवेदी जी का युग विद्रोह का युग था। उन्होंने अपने लेखन में जितने महत्त्वपूर्ण चरित्र बनाए हैं या जिन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों पर लिखा है वे सभी विद्रोही चरित्र हैं। द्विवेदी उन्हें सीधे-सीधे विद्रोही नहीं कहते बल्कि 'फक्कड़' और 'मस्त' कहते हैं और नामवर सिंह ने विश्लेषण करते हुए सही लिखा है,"वस्तुतः बीसवीं सदी के चौथे दशक में विद्रोह फक्कड़पन के ही किसी-न-किसी रूप को लेकर साहित्य में प्रकट हुआ था।"[1] द्विवेदी जी अपने सम्पूर्ण लेखन में इस फक्कड़ाना मस्ती को बार-बार रेखांकित करते हैं।

द्विवेदी जी के समय में भारत में भी आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता तेजी से विकसित हो रही थी। साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन जन्म ले चुका था। नयी पीढ़ी में एक प्रकार का असन्तोष और विद्रोह मुखर हो रहा था। द्विवेदी जी 'जड़ विज्ञान' और 'यन्त्र विज्ञान' की चर्चा करते हैं। प्रगतिशील मानववादी दृष्टि को उसकी सीमाओं के साथ स्वीकार करते हैं और जनता के 'भावलोक के विद्रोह' को किसी बड़े परिवर्तन का संकेत मानते हैं। वे रीतिवादी-कलावादी काव्याभिरुचि का ज़ोरदार विरोध करते हुए लोकमंगल को कसौटी बनाते हैं।

द्विवेदी जी का युग अनेक सामाजिक कुरीतियों, पाखण्डों और रूढ़ियों का युग है। जर्जर जाति-व्यवस्था और हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का युग है। नारी-शोषण, ग़रीबी और बेकारी का युग है। भ्रष्ट राजनेताओं और चापलूस दरबारियों का युग है। द्विवेदी जी अपने लेखन मे इन सबका पर्दाफ़ाश करते हैं। अपने 'कबीर' सम्बन्धी अध्ययन में, उपन्यासों में, निबन्धो मे, वे इन स्थितियों पर कड़ा प्रहार करते है। अपने उपन्यासों में वे महसूस करते हैं कि भारतवर्ष की धर्म-व्यवस्था में बहुत से छिद्र हो गए हैं। सर्वत्र घुन लगा हुआ है। क्षुद्रता के अहंकार से यहाँ की प्रत्येक जाति जर्जर है, प्रत्येक समुदाय अन्तर्विदीर्ण। भेद-बुद्धि

---

1. दूसरी परम्परा की खोज, पृ० 53

से जर्जर, स्वार्थ-बुद्धि से अंधा। आर्यावर्त नाश के कगार पर खड़ा है। यह देश रसातल को जाने वाला है। पुरुष नारी को मांसपिण्ड समझकर भुक्खड़ गिद्ध की तरह उस पर टूट रहा है। 'चारुचन्द्रलेख' में सीदी मौला कहता है :

> "दिल्ली में गुलामों का राज्य है। सबके सब चुग़लखोर, चरित्रहीन, क्रूर, गँवार! नाश हो जाएगा इस सल्तनत का। गाँठ बाँध लो महाराज! जिस सल्तनत में सबको अपनी-अपनी पड़ी हो, जिसमें बड़े-से-बड़े को अपना सिर बचाने की ही चिन्ता पड़ी हो, जिसमें प्रजा के सुख-दुःख से कोई मतलब ही न हो, वह नाश के कगार पर खड़ी है। वे भाग्यहीन डंडे के बल से राजा बनना चाहते हैं।"

द्विवेदी जी चाहते हैं कि राष्ट्र की मान-मर्यादा और उसकी सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी इन निकम्मे अकर्मण्य शासकों पर छोड़कर जनता मूक दर्शक न बनी रहे। वे प्रजा की शक्ति में विश्वास रखते हैं और चाहते हैं कि प्रजा शासन और देश की मान-मर्यादा के निर्माण में अपनी निश्चित हिस्सेदारी निभाए। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में महामाया कहती है :

> "अमृत के पुत्रों, म्लेच्छ वाहिनी पहली बार नहीं आ रही है, अन्तिम बार भी नहीं आ रही है। तुम यदि आज तुवरमिलिन्द और श्रीहर्षदेव की आशा पर बैठे रहोगे, तो सम्भवतः आज यह विपत्ति हट जाए, परन्तु कल नहीं टलेगी। तुवरमिलिन्द और श्रीहर्षदेव सदा नहीं रहेंगे, परन्तु तुम्हें सदा रहना है। अमृत के पुत्रों, मैं भविष्य देख रही हूँ। राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थ के गुलाम बनते जा रहे हैं। प्रजा भीरु और कायर बनती जा रही है। विद्वान और शीलवान नागरिकों की बुद्धि कुंठित होती जा रही है। धर्माचरण में इसीलिए व्याघात उपस्थित हुआ है कि राजा अंधा है, प्रजा अंधी है और विद्वान अंधे हैं। यह बड़ा अशुभ लक्षण है। अमृत के पुत्रों, मैं ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्ला रही हूँ, यह अशुभ लक्षण है। अपने आपको बचाओ, धर्म पर दृढ़ रहो, न्याय के लिए मरना सीखो, ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक एक हो जाओ। चट्टान की तरह दुर्भेद्य। एक, यही बचने का उपाय है। अमृत के पुत्रों, राजपुत्रों की वेतनभोगी सेना की आशा छोड़ो, मृत्यु का भय माया है।"[1]

'चारुचन्द्रलेख' में द्विवेदी जी कहते है :

> "शस्त्रबल से हारना हारना नहीं है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी, सारा का सारा देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाए,

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ 258

> मुझे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं होगी, यदि प्रजा में आत्मविश्वास बना रहे, अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।"[1]

कहना न होगा कि द्विवेदी जी अपने सारे लेखन द्वारा पाठक में यह आत्मबल और आत्मविश्वास भरना चाहते हैं। उसमें अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा ज़िन्दा रखना चाहते हैं। अपने सम्पूर्ण लेखन में वे बार-बार जो सांस्कृतिक चिन्ता व्यक्त करते हैं वह उनके युग की ही चिन्ता है।

---

1. चारुचन्द्रलेख, पृ० 88

2

निबन्ध

मनुष्य में अपने को अभिव्यक्त करने की बलवती इच्छा होती है। साहित्य और कला उसकी इस इच्छा के क्रियात्मक रूप हैं। कला में कलाकार का व्यक्तित्व भी आ जाता है। निबन्ध में जिस तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है वह है निबन्धकार का व्यक्तित्व। इसे निबन्ध में प्रायः अनिवार्य माना जाता है। निबन्धों का जनक मान्तेन (1533-92 ई०) कहता है: "मैं अपने को ही निबन्धों में चित्रित करता हूँ।" उसकी दृष्टि में निबन्ध "आत्मा को दूसरों तक पहुँचाने के प्रयास हैं।" इस 'व्यक्तित्व' की विशेषता के कारण 'निवन्ध' 'लेख' से अलग हो जाता है। लेख (आर्टिकल) में व्यक्तित्व अनिवार्य न होकर अध्ययन और विषय प्रधान होता है। इसके विपरीत निबन्ध (एसे) में लेखक का व्यक्तित्व। किसी निबन्धकार ने कहा है कि निबन्ध में विषय की स्थिति जलाशय की सतह पर तैरते हुए काष्ठ खण्ड की तरह होती है जिसकी गति और दिशा जल की तरंगों से निर्धारित होती है। निबन्ध में भी विषय को गति और दिशा देने का काम निबन्धकार का व्यक्तित्व करता है।

निबन्ध में आत्मीयता बहुत होती है। इसमें लेखक और पाठक का अन्तर मिट जाता है। निबन्धकार पाठक से एक पटु सम्भाषणकर्ता के समान घरेलू बातचीत करने लगता है। निबन्धकार निबन्ध का ढाँचा प्रायः परिचित आधार पर ही खड़ा करता है। ऐसा लगता है जैसे उसे कोई विषय ही नहीं मिल रहा था। वह पाठक की विस्मृत किंवदंतियों या पौराणिक कथा-प्रसंगों का हवाला देता चलता है। बीच-बीच में व्यंग्य-विनोद करता हुआ, परम्परा पर प्रहार करता, उसे चुनौती देता हुआ, अत्यन्त गम्भीर विषय को भी नितान्त सहज ढंग से कह जाता है। साहित्य की अन्य विधाओं में लेखक का कथ्य कुछ कलात्मक आवरण में छिपकर व्यक्त होता है, किन्तु निबन्ध में वह एक सहज स्पष्ट प्रवाह के रूप में।

ऊपर निबन्ध की जो विशेषताएँ बताई गई हैं, हिन्दी में उनका उत्कर्ष हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में दिखाई पड़ता है। द्विवेदी जी ने हिन्दी की निबन्ध विधा को ऊँचाई के शिखर तक पहुँचा दिया। उनका स्वच्छन्द व्यक्तित्व अपने

लिए सर्वाधिक मुक्त आकाश निबन्धों में ही पाता है। 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'विचार प्रवाह', 'कुटज' आदि द्विवेदी जी के प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं। इन संग्रहों में हिन्दी और संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति, भाषा, शोध, शिक्षा, प्राचीन इतिहास, धर्म, दर्शन, तन्त्र, ज्योतिष, प्रकृति आदि विविध विषयों पर उनके निबन्ध संग्रहीत हैं।

द्विवेदी जी के सबसे अधिक निबन्ध साहित्य को विषय बनाकर लिखे गए हैं। *'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति : साहित्य', 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है', 'साहित्य की साधना', 'साहित्य का प्रयोजन : लोक कल्याण', 'साहित्य के नए मूल्य', 'आधुनिक साहित्य : नयी मान्यताएँ', 'साहित्य में मौलिकता का प्रश्न', 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि', 'साहित्य की सम्प्रेषणीयता', 'साहित्यकारों का दायित्व', 'आलोचना का स्वतन्त्र मान', 'सावधानी की आवश्यकता', 'काव्य-कला', 'समीक्षा में संतुलन का प्रश्न', 'हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक', 'कविता का भविष्य', 'चार हिन्दी कवि', 'महिलाओं की लिखी कहानियाँ', 'संस्कृत का साहित्य', 'संस्कृत की कवि प्रसिद्धियाँ', 'संस्कृत साहित्य में पक्षी-वर्णन'* आदि निबन्ध इसी प्रकार के हैं। ऐसे ही अनेक निबन्धों में द्विवेदी जी के साहित्य सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं। साहित्य के स्वरूप और उसके प्रयोजन के बारे में द्विवेदी जी की अपनी निश्चित मान्यताएँ हैं। वे अपनी विचारदृष्टि के अनुसार साहित्य की विविध विधाओं और कवियों-लेखकों आदि का मूल्यांकन करते हैं। इन निबन्धों में द्विवेदी जी की चिन्तनपरक, तार्किक और शोधपूर्ण दृष्टि देखी जा सकती है। ये निबन्ध 'मस्तिष्क की ढीली-ढाली उद्भावना' (A loose sally of the mind) नहीं हैं।

द्विवेदी जी के अनुसार "सारे मानव-समाज को सुन्दर बनाने की साधना का ही नाम साहित्य है।" वे मनुष्य को देवता बनाना छन्द-साधना का चरम लक्ष्य मानते हैं। उनकी दृष्टि मे मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्य पद का अधिकारी बने रहने के लिए साहित्य ही एकमात्र सहारा है। जो जाति साहित्य के सर्वोत्तम रूप को समझ सकती है वह मनुष्यता के सर्वोत्तम रूप को समझ सकती है।[1] 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं :

> "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदु:ख-कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

---

1. 'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति : साहित्य' शीर्षक निबंध

इसी निबन्ध में आगे वे कहते हैं :

> "वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जययात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखा है, राजनीति में इसकी लुका-छिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसकी रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है।"

द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य का प्रयोजन है—लोककल्याण। लिखने का लक्ष्य है सामाजिक मनुष्य का मंगलविधान। साहित्य केवल कल्पना-विलास की सामग्री नहीं है। उसका लक्ष्य मनुष्यता है।

> "जिस पुस्तक से यह उद्दश्य सिद्ध नहीं होता; जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नहीं होता; जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाकर खड़ा नहीं हो जाता; जिससे वह छीना-झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता, वह पुस्तक किसी काम की नहीं है।"[1]

द्विवेदी जी की दृष्टि मानववादी दृष्टि है। उनकी इस दृष्टि पर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, कबीर और रवीन्द्रनाथ का गहरा प्रभाव है। वे मनुष्य की महानता में विश्वास करते हैं। बार-बार साक्ष्य देकर कहते हैं कि मनुष्य से बड़ा दूसरा कोई नहीं है। उन्हीं के शब्दों में,

> "न जाने किस पुण्य क्षण में किसी अज्ञात काल के अज्ञात मुहूर्त में हमारा यह ग्रह पिण्ड जिसका नाम पृथ्वी दिया गया है, सूर्यमण्डल से टूट गया था, उस समय यह ज्वलन्त गैसों से भरा हुआ था।···धरित्री खण्ड के किस कण में जीवतत्त्व वर्तमान था, कोई नहीं जानता।··· न जाने कब से जीव तत्त्व उन तप्त धातुओं में छिपा हुआ अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था। समस्त जड़ शक्ति के मस्तक पर पैर रखकर जब वह मृदुल तृणांकुर के रूप में पैदा हुआ तो पृथ्वी के इतिहास में अघटित घटना घटी थी।·· जीवतत्त्व की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति आज तक समस्त जड़ तत्त्वों को परास्त करके विराज रही है। जीव तत्त्व विकसित होता गया एक कोश से अनेक कोशों में, सरल संघात से जटिल समूह के रूप में, कर्मेन्द्रिय प्रधान जीवों से ज्ञानेन्द्रिय प्रधान जीवों के रूप में और अन्त में उसने मनुष्य के रूप में अपने

---

1. 'साहित्य का प्रयोजन—लोककल्याण' शीर्षक निबंध

को प्रकट किया। मनुष्य उसकी अन्तिम परिणति है।"[1]

द्विवेदी जी अपनी कृतियों में जिस 'मनुष्य' की बार-बार चर्चा करते हैं वह कोई अमूर्त 'मनुष्य' नहीं है। उनका 'मनुष्य' वह है जो पशु धरातल से ऊपर उठा हुआ है। उन्हीं के शब्दों में :

> "मनुष्य में यदि विवेक नहीं जागृत हो सका, यदि उदारता, समता और संवेदनशीलता का विकास नहीं हुआ, यदि आत्मसम्मान और परसम्मान के महान तत्त्वों को नहीं अपना सका, यदि उसमें सन्तोष और श्रद्धा का विकास नहीं हुआ तो वह 'पशु' से अधिक भिन्न नहीं है।"[2]

द्विवेदी जी का मनुष्य संकीर्ण सीमाओं में बँधा हुआ मनुष्य नहीं है। द्विवेदी जी अपनी कृतियों में बार-बार जाति-भेद, धर्म-सम्प्रदाय, पूजा-उपासना, छुआछूत, आचार-विचार आदि की संकीर्णताओं पर प्रहार करते हैं। वे मानते हैं कि इनके कारण हमारे देश का समूह चित्त बहुत जटिल और विचित्र हो गया है। 'मेरी जन्मभूमि' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :

> "मैं स्पष्ट ही देख रहा हूँ कि नाना जातियों और समूहों में विभाजित मनुष्य सिमटता आ रहा है। उसका कोई भी विश्वास और कोई भी नीति-रीति चिरन्तन होकर नहीं रह सकी है। उसके न तो मन्दिर ही अविमिश्र हैं, न देवता ही चिरकालिक हैं। मनुष्य किसी दुस्तर-तरण के लिए कृत संकल्प है। जातियों और समूहों के भीतर से उसकी विजय-यात्रा अनाहत गति से बढ़ रही है। वह अपनी इष्टसिद्धि के लिए बहुत भटका है। अब भी भटक रहा है, पर खोजने में वह कभी विचलित नहीं हुआ। ये अधभूले नृत्य-गीतों की परम्पराएँ उसकी नवग्राहिणी प्रतिभा के चिह्न हैं, ये नवीन देवताओं की कल्पना उसके राह खोजने की निशानी हैं और ये भूली हुई परम्पराएँ इस बात का संकेत करती हैं कि वह परम्परा और संस्कृति के नाम पर जमे हुए किट्टाभ संस्कारों को फेंक देने की योग्यता रखता है। हमारे गाँव की विविध जातियाँ यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि तथाकथित जाति-प्रथा कोई फ़ौलादी ढाँचा नहीं है, उसमें अनेक उतार-चढ़ाव होते रहे हैं और होते रहेंगे। संक्रांति-काल से आप क्या समझते हैं, यह तो मुझे नहीं मालूम, पर साहित्यिक का कर्त्तव्य तो स्पष्ट है कि वे कभी किसी प्रथा को चिरन्तन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्विजेय न मानें और आज

---

1. विचार प्रवाह
2. कल्पलता

> की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकालसिद्ध सत्य न मान लें। इतिहास विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में जो 'मनुष्यता' है, जो उसे पशु से अलग कर देती है, वही आराध्य है। क्या साहित्य और क्या राजनीति, सबका एकमात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है।"

ऊपर के उद्धरण में न केवल द्विवेदी जी की मनुष्य सम्बन्धी अवधारणा वरन् मनुष्य को लेकर उनकी आशावादी दृष्टि भी स्पष्ट है। उनका विश्वास है कि एक दिन ऐसा आएगा जब मनुष्य अपनी आसुरी वृत्तियों का परित्याग कर देगा और समस्त संसार हिंसा, घृणा और छीना-झपटी के विषाक्त वातावरण से मुक्त हो जाएगा। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं कि नाखून का बढ़ना पशुता की निशानी है। जब मनुष्य जंगली था तो जीवन-रक्षा के लिए नाखून बहुत जरूरी थे। ये उसके अस्त्र थे। जैसे-जैसे मनुष्य विकसित होता गया उसने नाखून को काटना शुरू किया। यह उसके संयम का प्रतीक है। यद्यपि पशुत्व के चिह्न उसके भीतर हैं पर वह उन्हें छोड़ना चाहता है। यह मनुष्य की अपनी इच्छा है, उसका आदर्श है। इसी प्रकार जीवन में अस्त्र-शस्त्रों को बढ़ाने की प्रवृत्ति पशुता की निशानी है पर उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यता है। द्विवेदी जी मानते हैं कि मनुष्य की सम्भावनाएँ असीम हैं। उसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं है। वह कभी पराजित नहीं होता। पशुता उसके भीतर बार-बार प्रकट होती है और वह बार-बार उसे नष्ट करने की कोशिश करता है। मनुष्य के विकास की यही कहानी है।

द्विवेदी जी की दृष्टि मूलतः सांस्कृतिक है। साहित्य के बाद उनके सबसे अधिक निबन्ध संस्कृति-चिंतन सम्बन्धी हैं। उनके अधिकांश निबन्धों में भारतीय संस्कृति के स्वरूप और उसकी शक्ति का विश्लेषण हुआ है। द्विवेदी जी में यह संस्कृति-प्रेम इतना है कि उनकी शायद ही कोई रचना हो जिसमें संस्कृति के सम्बन्ध में उनके विचार न व्यक्त हुए हों। 'अशोक के फूल', 'मेरी जन्म-भूमि', 'हिमालय', 'ठाकुर जी की बटोर', 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी का प्राचीन साहित्य', 'सभ्यता और संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति की देन', 'भारतीय संस्कृति का स्वरूप', 'संस्कृति और साहित्य', 'संस्कृतियों का संगम', 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या', 'हिन्दू संस्कृति के अध्ययन के उपादान' आदि निबन्ध तो मुख्य रूप से संस्कृति को ही विषय बनाकर लिखे गए हैं। संस्कृति के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की अपनी स्पष्ट निश्चित धारणा है। वे संस्कृति को किसी देश या जाति तक सीमित करके नहीं देखते। उनके अनुसार सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। द्विवेदी

जी संस्कृति के सन्दर्भ में पूर्व या पश्चिम, या भारतीय-अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनों को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कोई भी संस्कृति विश्वजनीन सत्य की विरोधी नहीं होती। उन्हीं के शब्दों में :

> "नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान मानवी संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।"[1]

सभ्यता और संस्कृति का अन्तर स्पष्ट करते हुए द्विवेजी जी लिखते हैं :

> "सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा-असुविधाओं पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर ; सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर ; सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था के अतीत पर ; सभ्यता के निकट क़ानून मनुष्य से बड़ी चीज़ है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य क़ानून के परे है ; सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है, संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी।"[2]

जैसा कि कहा जा चुका है, द्विवेदी जी किसी देश या जाति की विशुद्ध संस्कृति जैसी कोई चीज़ नहीं मानते। भारतीय संस्कृति पर भी वे इसी दृष्टि से विचार करते हैं। 'अशोक के फूल' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं कि भारतवर्ष एक विचित्र देश है। उसे रवीन्द्रनाथ ने 'महामानवसमुद्र' कहा है। यहाँ असुर, आर्य, शक, हूण, नाग, यक्ष, गंधर्व न जाने कितनी मानव जातियाँ आईं और एक दूसरे में मिल गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। जिसे हम आज का भारतवर्ष कहते हैं वह नाना जातियों, संस्कारों, धर्मों, रीति-रस्मों का जीवन्त समन्वय है। द्विवेदी जी के अनुसार :

> "भारतीय संस्कृति ने भेद की समस्या को उस ढंग से नहीं सुलझाया जिस ढंग से अमेरिका में सुलझाया गया है। अमरीका-प्रवासी यूरोपीयों ने वहाँ के आदिम अधिवासियों को बेदर्दी के साथ कुचल

---

1. 'भारतीय संस्कृति की देन' शीर्षक निबंध
2. 'सभ्यता और संस्कृति' शीर्षक निबंध

> दिया। उनका अस्तित्व ही नहीं रहने दिया। जो सभ्यता सबको पीट-कर एक कर देना चाहती है, उसके प्राण में बहुत्व है, उसके रक्त में भेद-भाव और घृणा है। भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है। यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक दूसरे को बाधा न पहुँचाते हुए भी अपनी विशेषताओं के समेत जीवित हैं।"[1]

द्विवेदी जी असली भारतीय संस्कृति उसे मानते हैं जो मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने में समर्थ और सहायक है। इस देश के लोगों ने अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए जो प्रयत्न किए हैं और उनके यह प्रयत्न जितने अंश में संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों के अविरोधी हैं उतने ही अंश में द्विवेदी जी उन्हें महान संस्कृति का अंश मानते हैं। भारत ने दुनिया के तमाम देशों को अपनी धर्म-साधना के श्रेष्ठ मूल्य दिये हैं। उसने अहिंसा और मैत्री का संदेश दिया है, विशाल आध्यात्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है। भारतीय दृष्टि केवल भौतिकता तक सीमित नहीं रही है बल्कि उसने आनन्द तक पहुँचने की कोशिश की है। अपने निबन्धों में द्विवेदी जी न केवल भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं बल्कि उसके प्रति आधुनिक दृष्टि रखते हुए उसकी पुनर्व्याख्या भी करते हैं। रूढ़ियों, अंधविश्वासों और मृत परम्पराओं को स्वीकार नहीं करते लेकिन साथ ही आधुनिकता के अति उत्साह या फ़ैशन के चलते उन मूल्यों को छोड़ने की भी सलाह नहीं देते जिन्हें मनुष्य ने अपने लम्बे संघर्ष के बाद अर्जित किये हैं। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

> "पुरानी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ। परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ अभ्यास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ अभ्यास से ही पाये जाते हैं।"

द्विवेदी जी जाति-पाँति की संकीर्णताओं को भारतीय संस्कृति नहीं मानते। 'ठाकुर जी की बटोर' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :

> "जो ठाकुर जाति विशेष की पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जाति की पूजा ग्रहण करके अग्राह्य-चरणोदक हो जाते है, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान हीन और पतितों के भगवान हैं, जाति और वर्ण से परे भगवान हैं, धर्म और सम्प्रदाय के ऊपर के भगवान हैं, वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं, और पूजा ग्रहण करके अब्राह्मण-चाण्डाल सबको पूज्य बना सकते हैं।"

---

1. वही

साहित्य और संस्कृति के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने धर्म, दर्शन, ज्योतिष, भाषा, शिक्षा, प्राचीन इतिहास आदि से संबंधित अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। इनमें बहुत से निबन्ध शोधपरक हैं। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का एक पक्ष एक ऐसे शोध पंडित का है जो पुरानी पोथियों में खोया रहता है। यह पुराने अनमोल रत्नों का पारखी है। द्विवेदी जी के शोधपूर्ण निबन्ध अध्येताओं को नयी जानकारियाँ देते हैं और पल्लवग्राही पांडित्य वाले पाठकों को चमत्कृत भी करते हैं। द्विवेदी जी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी और बाङ्ला-साहित्य के मर्मज्ञ पंडित थे। अंग्रेज़ी के माध्यम से उन्होंने पाश्चात्य साहित्य का भी अध्ययन किया था। उनके निबन्धों में उनका गहन पांडित्य देखा जा सकता है लेकिन उनमें पांडित्य का बोझ नहीं है। 'अशोक के फूल' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :

> "पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेज़ी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है।"

द्विवेदी जी में गहन पांडित्य को सहज ढंग से व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है। दर्शन और चिन्तन की बहुत गंभीर और सूक्ष्म बातें वे बहुत सहज ढंग से कह जाते हैं। अपने 'कबीर' के अध्ययन के सिलसिले में उन्होंने 'सहज' को ख़ास तौर से महत्त्व देकर रेखांकित किया है। उनके निबन्धों में पांडित्य सहज निर्झर की तरह प्रवाहित होता है। क़लम उठाते ही आत्मसात किया हुआ ज्ञान बहने लगता है। उनके निबन्धों में संदर्भ बहुत आते हैं—संस्कृत के उद्धरण, प्राकृत और अपभ्रंश के उद्धरण, भक्ति और रीतिकाल के कवियों की कविताएँ तथा कवि रवीन्द्रनाथ के गीतों की पंक्तियाँ आदि। द्विवेदी जी इन उद्धरणों के अनुवाद करते चलते हैं। उन्हें अत्यन्त सहज बनाकर पेश करते हैं ताकि पाठक को किसी प्रकार कठिनाई न हो। अत्यन्त छोटी-छोटी बातें करते हुए वे सहज ढंग से बड़ी गंभीर बातें करने लगते हैं। अशोक के फूलों को देखकर वे भारतीय साहित्य और संस्कृति मे इतनी गहरी डुबकी लगाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। क्षण में काल का एक लम्बा विस्तार नाप लेना द्विवेदी जी की विशेषता है। अशोक के छोटे-छोटे लाल-लाल सामान्य पुष्प स्तबकों के बहाने द्विवेदी जी जो लम्बी और व्यापक सांस्कृतिक यात्रा कर डालते हैं वह उनकी निबन्ध शैली का एक अद्भुत नमूना है। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?'—एक छोटी-सी बच्ची के इस अत्यन्त सामान्य से प्रश्न पर वे जिस तरह गंभीर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और लाखों वर्ष की मनुष्यता के इतिहास में घुस जाते हैं यह उनके मनुष्य और उसकी संस्कृति में दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्तित्व का उदाहरण है। वस्तुतः द्विवेदी जी का व्यक्तित्व संस्कृति प्रेमी व्यक्तित्व है। किसी भी विषय पर लिखते हुए वे मनुष्य और उसकी संस्कृति पर सोचना नहीं छोड़ते। मनुष्य और उसकी संस्कृति उनके

सम्पूर्ण चिंतन के केन्द्र में होती है। यही उनके निबन्धों का भी बुनियादी सरोकार है। भारतेन्दु युग भी निबन्धों की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है। लेकिन उस युग के निबन्धों के केन्द्र में राजनीति और तत्कालीन समाज है। द्विवेदी जी के निबन्धों के केन्द्र में मानव संस्कृति है। 'मेरी जन्मभूमि' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "अच्छा समझिए या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, बशर्ते वह बालू मुझे अच्छी लग जाय।"

द्विवेदी जी की यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा उनके निबन्धों में दिखाई पड़ेगी। 'ठाकुर जी की बटोर' शीर्षक निबन्ध में वे अपने गाँव की मामूली-सी ठाकुरबाड़ी की समस्या को सारे विश्व की समस्या के साथ जोड़ देते हैं। 'मेरी जन्मभूमि' निबन्ध में वे अपने गाँव और आसपास की चर्चा करते हुए नाना जातियों और समूहों में विभाजित मनुष्य मात्र की चर्चा करने लगते हैं और अपने गाँव की जातियों के बहाने एक ऊँची उड़ान भरते हुए मनुष्य की विजय-यात्रा के इतिहास में चले जाते हैं। इस उड़ान में उनकी सबसे ज्यादा मदद करते हैं—शब्द। शब्द उनके लिए पंख बन जाते हैं। शब्द-क्रीडा द्विवेदी जी की प्रिय आदत है। चाहे उपन्यास हो या आलोचना या निबन्ध वे शब्दों की क्रीड़ा करते रहते हैं। उन्हें धूल से उठाते हैं और उनमें अपने संदर्भ और अपनी इच्छा के अनुसार नया अर्थ भरकर रत्न बना देते हैं। शब्द वस्तुत: रत्न ही होते हैं। वे मनुष्य के संस्कृति-चिह्न होते हैं। उसकी विजय-यात्रा के साक्ष्य होते हैं। वे मनुष्य की ऐसी स्मृति होते हैं, जिनके पदचिह्नों के सहारे हजारों हजार वर्ष के अँधेरे अतीत में प्रवेश किया जा सकता है। द्विवेदी जी यह बड़ी विद्वता और बड़े कौशल से करते हैं। 'मेरी जन्मभूमि' शीर्षक निबंध में लिखते हैं :

> "मेरे गाँव में जो जातियाँ बसी हैं, वे किसी उजड़े महल या गाड़ी हुई ईंटों से कम महत्त्वपूर्ण तो हैं ही नहीं, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे-से गाँव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।"

इसी निबंध में द्विवेदी जी अपने गाँव की 'काँदू', 'कलवार', 'तुरहा', 'जुलाहा' आदि जातियों का शब्दों के आधार पर विश्लेषण करने लगते हैं। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' शीर्षक निबन्ध में वे 'स्वाधीनता' शब्द के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति की नब्ज पकड़ लेते हैं—

> "15 अगस्त को जब अंग्रेज़ी भाषा के पत्र 'इण्डिपेन्डेन्स' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र 'स्वाधीनता दिवस' की चर्चा कर रहे

थे। 'इण्डिपेण्डेन्स' का अर्थ है अनधीनता या किसी की अधीनता का अभाव, पर 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अंग्रेज़ी में कहना हो तो 'सेल्फ डिपेण्डेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी सोचता हूँ कि इतने दिनों तक अंग्रेज़ी की अनुवर्तिता करने के बाद भी भारतवर्ष 'इण्डिपेन्डेन्स' को अनधीनता क्यों नहीं कह सका? उसने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किये—स्वतन्त्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता—उन सब में स्व का बंधन अवश्य रखा। यह क्या संयोग की बात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजान में, हमारी भाषा के द्वारा प्रकट होती रही है?"

शब्दों के आधार पर प्राचीन इतिहास और मानव संस्कृति की गहराइयों में प्रवेश करने की कला के द्विवेदी जी में इतने ज्यादा उदाहरण मिलेंगे कि गिनाना मुश्किल हो जाय। इस संदर्भ में 'कुटज' शीर्षक उनके प्रसिद्ध निबन्ध से केवल एक उद्धरण पर्याप्त होगा जिसमें उनकी शब्द-क्रीड़ा वृत्ति का भी परिचय मिल जायेगा। वे लिखते हैं :

"कुटज अर्थात् जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते हैं? 'कुटिया' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से सम्बद्ध है। क्या इस शब्द का अर्थ घर ही है? घर में कामकाज करने वाली दासी कुटकारिका और कुटहारिका कही जा सकती है। एक जरा ग़लत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जाती है। संस्कृत में उसकी ग़लतियों को थोड़ा अधिक मुखर बनाने के लिए उसे 'कुट्टिनी' कह दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारद जी की तरह दासी के पुत्र थे क्या? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नहीं है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य हैं, पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घड़े या गमले से क्या लेना देना? शब्द विचारोत्तेजक अवश्य है। कहाँ से आया? मुझे तो इसी में संदेह है कि यह आर्य भाषाओं का शब्द है भी या नहीं। एक भाषाशास्त्री किसी संस्कृत शब्द को एक से अधिक रूप में प्रचलित पाते थे तो तुरन्त उसकी कुलीनता पर शक़ कर बैठते थे। संस्कृत में 'कुटज' रूप भी मिलता है और 'कुटच' भी। मिलने को तो 'कूटज' भी मिल जाता है। तो यह शब्द किस जाति का है? आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। सिलवाँ लेवी कह गये हैं कि

संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेती-बागवानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा-परिवार के हैं। यह भी वहीं का तो नहीं है ? एक ज़माना था जब आस्ट्रेलिया और एशिया के महाद्वीप मिले हुए थे, फिर कोई भयंकर प्राकृतिक विस्फोट हुआ और ये दोनों अलग हो गये। उन्नीसवीं शताब्दी के भाषा विज्ञानी पंडितों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आस्ट्रेलिया के सुदूर जंगलों में बसी जातियों की भाषा एशिया में बसी हुई कुछ जातियों की भाषा से सम्बद्ध है। भारत की अनेक जातियां वह भाषा बोलती हैं जिनमें सन्थाल, मुण्डा आदि भी शामिल हैं। शुरू-शुरू में इस भाषा का नाम आस्ट्रो-एशियाटिक दिया गया था। दक्षिण पूर्व या अग्निकोण की भाषा होने के कारण इसे आग्नेय परिवार भी कहा जाने लगा है। अब हम लोग भारतीय जनता के वर्ग-विशेष को ध्यान में रखकर और पुराने साहित्य का स्मरण करके इसे कोल परिवार की भाषा कहने लगे हैं। पंडितों ने बताया है कि संस्कृत भाषा के अनेक शब्द, जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गये हैं, इसी श्रेणी की भाषा के हैं। कमल, कुड्मल, कम्बु, कम्बल, ताम्बूल आदि शब्द ऐसे बताए जाते हैं। पेड़-पौधों, खेती के उपकरणों और औजारों के नाम भी ऐसे ही हैं। 'कुटज' भी हो तो क्या आश्चर्य ? संस्कृत भाषा ने शब्दों के संग्रह में कभी छूत नहीं मानी। न जाने किस-किस नस्ल के कितने शब्द उसमें आकर अपने बन गये हैं। पंडित लोग उसकी छानबीन करके हैरान होते हैं।"

निबन्ध में जिस व्यक्तित्व के तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है वह द्विवेदी जी के निबन्धों में अपने सर्वोत्तम रूप में दिखाई पड़ता है। उनके निबन्धों में सबके ऊपर छाया रहता है उनका सर्वजयी व्यक्तित्व। द्विवेदी जी का संस्कृति प्रेमी, उदार, सहज, उन्मुक्त व्यक्तित्व उनके निबन्धों का प्राणतत्व है। यह आकस्मिक नहीं है कि द्विवेदी जी मनुष्य के व्यक्तित्व को बहुत महत्त्व देते हैं। अपने प्रिय कवि 'कबीर' का अध्ययन करते हुए उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व पर अलग से विचार किया है और हिन्दी के तमाम कवियों से अलग उनके व्यक्तित्व का अद्‌भुत रेखांकन किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने 'अशोक के फूल' 'शिरीष के फूल', 'कुटज' और 'देवदारु' शीर्षक निबन्धों मे इन फूलों का जो व्यक्तित्व निर्मित किया है उसे देखकर वनस्पतिशास्त्री आश्चर्यचकित हो जायेंगे। 'देवदारु' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :

"इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ़ जाति देखते आ रहे है, व्यक्तित्व देखने की उन्हें न आदत है, न परवा है। सन्त लोग चिल्लाकर थक

गए कि 'मोल करो तलवार को, पड़ा रहन दो म्यान' मगर तलवार बन्द ही रह गए, म्यान के मोल-भाव से बाज़ार गर्म है। व्यक्तित्व को यहाँ पूछता ही कौन है ?"

द्विवेदी जी इस व्यक्तित्व को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। 'देवदारु' शीर्षक निबन्ध में वे अलग-अलग देवदारुओं का जो व्यक्तित्व निर्मित करते हैं वह सूक्ष्म निरीक्षण की दृष्टि से हिन्दी गद्य का एक दुर्लभ उदाहरण है। वे लिखते हैं :

"देवदारु भी सब एक से नहीं होते। मेरे बिल्कुल पास में जो है, वह जरठ भी है, खूँसट भी। जरा उसके नीचे की ओर जो है, वह सनकी-सा लगता है। एक मोटे राम खड्ड के एक प्रान्त पर उगे हैं, आधे ज़मीन में आधे अधर में; आधा हिस्सा ठूँठ, आधा जगर-मगर; सारे कुनबे के पाधा जाने पड़ते हैं। एक अल्हड़ किशोर है, सदा हँसता-सा; कवि जैसा लगता है। जी करता है इसे प्यार किया जाय। सदा से ऐसा होता आया है। हर देवदारु का अपना व्यक्तित्व होता है। एक इतना कमनीय था कि बैल की ध्वजा वाले महादेव ने उसे अपना बेटा बना लिया था। पार्वती माता की छाती से दूध ढरक पड़ा था। कालिदास खुद कह गये हैं। मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सबै धान बाईस पसेरी' दिखते हैं। वे लोग सबको एक ही जैसा देखते हैं उनके लिए वह खूँसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झिझोंटा, वह झबरैला, वह चपरगेंगा, वह गदरौना, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झुमरैला, वह धोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुन, वह बाँकुरा, वह चौरंगी, सब समान हैं।"

द्विवेदी जी का यह उद्धरण सूक्ष्म निरीक्षण के लिए ही नहीं भाषा की शक्ति और उसके वैभव के लिए भी स्मरण रखने लायक है। रचनाकार और सामान्य व्यक्ति में एक फ़र्क़ यह होता है कि सामान्य व्यक्ति जहाँ जाति देखता है वहाँ रचनाकार व्यक्तित्व। रचनाकार अपनी निगाह से सामान्य को भी विशिष्ट बना देता है, जाति को भी व्यक्ति बना देता है। द्विवेदी जी यह कार्य बखूबी करते हैं। उनके उपन्यासों के चरित्र व्यक्तित्व सम्पन्न हैं, उन्होंने जिन संत भक्त कवियों पर लिखा है वे सभी व्यक्तित्व सम्पन्न हैं और यहाँ तक कि उन्होंने जिन फूलों-वनस्पतियों पर लिखा है वे सभी व्यक्तित्व सम्पन्न हैं। यह द्विवेदी जी का ही व्यक्तित्व है जो उन सबको व्यक्तित्व सम्पन्न बनाता है। आखिर उपास्य उतना ही तो महान बन पाता है जितना उसका उपासक उसे बनाता है।

द्विवेदी जी के निबन्ध व्यक्ति व्यंजक या ललित निबन्ध कहे जाते हैं। पर जैसा कि कहा जा चुका है, वे हल्के-फुल्के व्यक्तिव्यंजक निबन्ध नहीं हैं। ये निबन्ध जितने ललित हैं, उतने ही शोधपरक। इनमें निबन्धकार कल्पना की

जितनी उड़ान भरता है, उतना ही तथ्यों से बँधा होता है। आत्मपरक प्रसंगों के बीच गहन गंभीर चिंतन और गहन गंभीर चिंतन के बीच घरेलू आत्मीयता द्विवेदी जी के निबन्धों की विशेषता है। 'आम फिर बौरा गए' शीर्षक निबन्ध की शुरूआत देखिए :

> "बसन्तपंचमी में अभी देर है, पर आम अभी से बौरा गये। हर साल ही मेरी आँखें इन्हें खोजती हैं। बचपन में सुना था कि बसन्तपंचमी के पहले अगर आम्रमंजरी दिख जाय तो उसे हथेली पर रगड़ लेना चाहिए; क्योंकि ऐसी हथेली साल भर तक बिच्छू के जहर को आसानी से उतार देती है। बचपन में कई बार आम की मंजरी हथेली पर रगड़ी है। अब नहीं रगड़ता, पर बसन्तपंचमी से पहले जब कभी आम्रमंजरी दिख जाती है तो बिच्छू की याद अवश्य आ जाती है। सोचता हूँ, आम और बिच्छू में क्या सम्बन्ध है?"

ललित या आत्मपरक निबन्धों में निबन्धकार विषय पर चलता हुआ इधर-उधर बहकता रहता है और प्राय: आत्मप्रसंगों के सहारे अपने पाठक से एक आत्मीय रिश्ता क़ायम करता है। 'बसन्त आ गया है' शीर्षक निबन्ध का एक अंश देखिए :

> "कवि के आश्रम में रहता हूँ। नितान्त ठूँठ नहीं हूँ; पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे? दो कचनार वृक्ष इस हिन्दी-भवन में हैं। एक ठीक मेरे दरवाज़े पर और दूसरा मेरे पड़ोसी के। भाग्य की बिडम्बना देखिये कि दोनों एक ही दिन के लगाये गए हैं। मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है। पड़ोसी वाला कमजोर, मरियल। परन्तु इसमें फूल नहीं आए और वह कम्बख्त कन्धे पर से फूल पड़ा है। मरियल-सा पेड़ है, पर क्या मजाल कि आप उसमें फूल के सिवा और कुछ देखें। ···मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मज़ाक ही है। सारी दुनिया में हल्ला हो गया है कि बसन्त आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार।"

द्विवेदी जी एक सफल अध्यापक और कुशल वक्ता थे। उनके निबन्धों में वक्तृत्व कला विशेष रूप से लक्षित होती है। एक कुशल वक्ता श्रोता की मानसिक स्थिति और उसके स्तर से परिचित होता है। वह अपने भाषण को प्रभावकारी बनाने के लिए उदाहरणों, सूक्तियों, लोकोक्तियों, कथाओं, संस्मरणों आदि का सहारा तो लेता ही है, बीच-बीच में गहरा व्यंग्य और विनोद भी करता चलता है। द्विवेदी जी के निबन्धों में वक्तृत्व कला की ये सभी विशेषताएँ भरी होती हैं। 'जीवेत शरदः शतम्' शीर्षक निबन्ध की शुरूआत देखिए :

> "आज आपको 'जीवेत शरदः शतम्' अर्थात् हम सौ वर्ष तक जीवित

> रहूँ, इस विषय पर अपना विचार सुनाने जा रहा हूँ। आज की इस बातचीत का नाम संस्कृत में दिया गया है। यह इसलिए किया गया है कि हमारे श्रोता शुरू में ही समझ लें कि यह प्रार्थना नयी नहीं है, बहुत पुरानी है। नित्य ही धार्मिक हिन्दू अपनी सन्ध्या-पूजा के समय भगवान से प्रार्थना करता है कि वह अदीन होकर सौ वर्ष तक जीता रहे।"

द्विवेदी जी बीच-बीच में ऐसे संबोधित करने लगते हैं जैसे किसी सामने बैठे हुए मित्र से बातचीत कर रहे हों :

> "तो क्या हुआ? यह सब मनुष्य की आत्मकेन्द्रित दृष्टि का प्रसाद है। देवदारु को इससे क्या लेना-देना! वह तो जैसा है वैसा बना हुआ है। तुम उसे वनस्पति कहो या देवता का काठ कहो! तुम्हें अच्छा लगता है तो अच्छा नाम देते हो, बुरा लगता है तो बुरा नाम देते हो। नाम में क्या धरा है! मुमकिन है इसका पुराना नाम देवतरु हो। देवता का तरु नहीं, देवता भी और तरु भी। देव होकर वह छन्द है, तरु होकर अर्थ है। छन्द, समष्टिव्यापिनी जीवनगति के समानांतर चलनेवाले व्यष्टिगत प्राणवेग का नाम है; अर्थ, समाज-स्वीकृति-प्राप्त संकेत हुआ करता है।"[1]

निबन्धों के बीच-बीच में जहाँ कहीं जरूरी होता है द्विवेदी जी व्यंग्य करने में नहीं चूकते। पण्डित, नेता, साहित्यकार सभी उनके व्यंग्य का निशाना बनते हैं। 'बरसो भी' शीर्षक निबन्ध में राजनीति और देश की दशा पर एक तीखा व्यंग्य देखिए :

> "मगर इन नीर भरी बदलियों को हो क्या गया है? कहाँ जा रही हैं ये? मुँह तो दिल्ली की ओर है। सब दिल्ली की ओर भाग रहे हैं। बादल भी, आदमी भी। स्वराज के पच्चीस वर्ष बाद यही भाग्य में लिखा था! सोचता था, यहाँ न सही, दिल्ली में बरस जाए तो क्या बुरा है! पर सुना है, वहाँ हालत और बुरी है। जितने कजरारे मेघ वहाँ गए, बिना बरसे ही सूख गए। अब क्या होगा? यहाँ भम्भ लोट रहा है, वहाँ खेह उड़ रही है। जानकार लोगों से पूछने पर दो कारण मालूम हुए। एक ने बताया कि 'प्रैशर' कम हो गया है। 'प्रैशर' माने दबाव। सारी दुनिया की तो नहीं मालूम, पर इस देश में प्रैशर बिना कोई काम नहीं होता।"

---

1. 'देवदारु' शीर्षक निबंध

'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?' शीर्षक निबन्ध में आलोचकों पर व्यंग्य करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं, और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित ! यह क्या कम साधना है ?···पढ़नेवाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करनेवाला पढ़ता नहीं—यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी, या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी इत्यादि-इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाए।"

निबन्धों में द्विवेदी जी की मस्ती देखने लायक होती है। वे ऐसे-ऐसे विनोदपूर्ण आत्मप्रसंग प्रस्तुत करते हैं कि पाठक उनके पांडित्य का आतंक भूल जाता है और उसे लगता है जैसे उसकी अपनी दुनिया का कोई आदमी बातचीत कर रहा हो। 'देवदारु' का एक मनोरंजक प्रसंग देखिए :

> "हमारे गाँव में एक पण्डित जी थे। अपने को महा विद्वान मानते थे। विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ में वे बड़े-बड़े दिग्गजों को हरा देते थे। विद्या के ज़ोर से नहीं, फचाफच के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोंछता हुआ भागता था। अगर कुछ कँडे का हुआ तो दैहिक बल से जय-पराजय का निश्चय होता था। मेरे सामने ही एक बार ख़ासी गुत्थमगुत्थी हो गई। गाँव-जवार के लोगों को पंडित जी की विद्या का भरोसा नहीं था, पर उनकी फचाफच वाणी और भीमकाया पर विश्वास अवश्य था। शास्त्रार्थ में पण्डित जी कभी हारे नहीं। कम लोग जानते हैं कि शास्त्रार्थ में कोई हारता नहीं, हराया जाता है। पण्डित जी के यजमान जम के उनके पीछे लाठी लेकर खड़े हो जाते थे, तो उनकी विजय निश्चित हो जाती थी। पण्डित जी केवल बड़े दिग्गज विद्वानों को ही नहीं, आसपास के भूतों को भी पराजित करने में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते थे। गायत्री का मन्त्र (जो उनके मुँह से आल्हा जैसा सुनाई देता था) और देवदारु की लकड़ी—उनके अस्त्र थे। एक बार वे बगीचे से गुज़र रहे थे, घोर अंधकार, भयंकर सुनसान ! क्या देखते हैं कि आगे दनादन ढेले गिर रहे हैं। पण्डित जी का अनुभवी मन तुरन्त ताड़ गया कि कुछ दाल में काला है। मनुष्य इतनी तेज़ी से ढेले नहीं फेंक सकता। पण्डित जी डरनेवाले नहीं थे। पीछे मुड़कर ललकारा—'अरे केवन है !' केवन अर्थात् कौन। पीछे मुड़कट्टा, घोड़े पर चढ़ा चला आ रहा था, टप्प-

> टप्प-टप्प !···सो, पण्डित जी से उलझने की हिमाकत की इस दुरन्त मुड़कट्टे ने। डरनेवाला कोई और होता है। पण्डित जी ने जूता उतार दिया, वह गायत्री मन्त्र के पाठ में बाधक था। झमाझम गायत्री पढ़ने लगे। देवदारु की लकड़ी मुट्ठी में थी। दे रद्दे पर रद्दा। बिचारा मुड़कट्टा त्राहि-त्राहि कर उठा—'अबकी बार छोड़ दो पण्डित जी, पहचान नहीं सका था। अब फिर यह ग़लती नहीं होगी। आज से मैं तुम्हारा गुलाम हुआ।' पण्डित जी का ब्राह्मण मन पसीज गया। नहीं तो यह सारे गाँव-जवार का कण्टक समाप्त ही हो गया होता। मैंने यह कहानी स्वयं पण्डित जी के मुँह से सुनी थी। अविश्वास करने का कोई उपाय नहीं था—'फर्स्ट हैंड इन्फर्मेशन' था।"

यह लम्बा उद्धरण द्विवेदी जी के निबन्धों की मस्ती और उनके व्यंग्य-विनोद का तो उदाहरण है ही उनकी जीवन्त भाषा का भी एक अद्भुत नमूना है। हर किसी को ऐसी भाषा नसीब नहीं होती। द्विवेदी जी के ही शब्दों में :

> "सहज भाषा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है।···जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नहीं बना लिया है, वे सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषाशास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा सकती, कोशों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे नहीं गढ़ा जा सकता। कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गाँधी को भी यह भाषा मिली, क्योंकि वे सहज हो सके।"[1]

कहना न होगा कि द्विवेदी जी को भी यह भाषा मिली थी। द्विवेदी जी पुराण, काव्यशास्त्र, संगीत, ज्योतिष, आयुर्वेद, धर्म और कला की सूक्ष्मतम जानकारियाँ ऐसे देते चलते हैं जैसे शब्दों से खिलवाड़ कर रहे हों। भाषा पर द्विवेदी जी का ज़बरदस्त अधिकार है, वैसे ही जैसे उन्हीं के शब्दों में उनके प्रिय कवि कबीर का। वे शब्दों की व्युत्पत्ति बताते हैं, उनका विकास बताते हैं, उनके पर्यायवाचियों की चर्चा करते हैं और इस प्रकार भाषा के खेल-खेल में अपने गूढ़ रहस्य को पाठक के सामने छींट देते हैं—कि बीन लो अपने काम भर का। एक तरफ़ उनकी भाषा लोक की मिट्टी की भाषा है तो दूसरी ओर शास्त्र के अध्यात्म चिन्तन की। किन्तु कहीं भी वह कृत्रिम नहीं बनती। 'साहित्य की साधना' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :

---

1. 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' शीर्षक निबन्ध

"ज्ञान का सहज बनना बहुत आवश्यक है। यदि आपके लिखने में आपका सुचिन्तित मत उसी प्रकार सहज गति से आ रहा है जिस प्रकार माता के दूध में पौष्टिक तत्त्व अनायास आ जाते हैं, तो कोई परवा नहीं।"

द्विवेदी जी की भाषा पर उनके व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप है कि वह तुरन्त पहचान ली जाती है। ऐसा सहज प्रवाह और साथ ही ऐसा ऐश्वर्य शायद ही किसी गद्यकार में मिले। द्विवेदी जी की भाषा की शक्ति अद्भुत है और अपने वैभव के लिए उनका गद्य बार-बार पढ़ा जाएगा। चाहे वह उपन्यास हो या आलोचना या निबन्ध।

3

उपन्यास

हजारीप्रसाद द्विवेदी के चारों उपन्यास—'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946 ई०), 'चारुचन्द्र लेख' (1963 ई०), 'पुनर्नवा' (1973 ई०) और 'अनामदास का पोथा' (1976 ई०)—अतीत को अपना क्षेत्र बनाते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षवर्धन के शासनकाल (606—47 ई०) के कुछ वर्षों का चित्रण हुआ है। 'चारुचन्द्रलेख' में गाहड़वाल (गहरवार) नरेश जयचन्द्र (जयचन्द) की पराजय (1194 ई०) के बाद का समय (12वीं—13वीं शताब्दी) चित्रित हुआ है। 'पुनर्नवा' में समुद्रगुप्त (लगभग 330 से 380 ई०) के समय को उपन्यास का विषय बनाया गया है और 'अनामदास का पोथा' में उपनिषद्-काल को। इस प्रकार द्विवेदी जी के चारों उपन्यास ऐतिहासिक या प्रागैतिहासिक काल पर आधारित हैं। पर ये ऐतिहासिक तथ्य-संग्रह नहीं हैं। द्विवेदी जी ने इतिहास के तथ्यों और घटनाओं की अपेक्षा साहित्यिक-सांस्कृतिक सामग्री को अपना आधार बनाया है। उनका मुख्य स्रोत साहित्य और लोकजीवन में प्राप्त किवदंतियाँ हैं। इन उपन्यासों में वे इतिहास के बहाने अपनी प्रतिभा और सर्जनात्मक कल्पना को साकार करते हैं। वे तिथियाँ और घटनाओं का आग्रह नहीं करते। ये उनके लिए बाह्य तत्त्व हैं। वे तिथियों और घटनाओं के पार जीवन की वास्तविक धड़कन को पकड़ना चाहते हैं। उस काल की संस्कृति, सामाजिक-संरचना, मनोविज्ञान और आचार-विचार को उद्घाटित करना चाहते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि द्विवेदी जी अपने उपन्यासों को बार-बार 'गप्प' की संज्ञा देते हैं और अपने उपन्यासों को 'गप्प' कहकर वे अपने को इतिहास के तथ्यों के बन्धन से मुक्त कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में उनका एक महत्त्वपूर्ण पत्र उद्धृत करना प्रासंगिक है। यह पत्र व्योमकेश शास्त्री का पत्र है जो हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाम लिखा गया है। यह बताने की जरूरत नहीं कि व्योमकेश शास्त्री और हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इस पत्र में आलोचक के रूप में व्योमकेश शास्त्री उपन्यासकार हजारीप्रसाद द्विवेदी को 'पुनर्नवा' उपन्यास के बारे में अपनी प्रतिक्रिया लिखते हैं। प्रतिक्रिया केवल 'पुनर्नवा' उपन्यास तक ही

सीमित नहीं है बल्कि द्विवेदी जी की सम्पूर्ण उपन्यास-दृष्टि के बारे में है। व्योमकेश शास्त्री (अर्थात् हजारीप्रसाद द्विवेदी) हजारीप्रसाद द्विवेदी को लिखते हैं :

"गप्प मारना कोई आप से सीखे। काल्पनिक घटनाओं का आपने ऐसा समावेश किया है कि पाठक भ्रम में पड़ जाय कि वह इतिहास पढ़ रहा है। वैसे तो जब आपने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी थी, उसी समय आपने यत्र-तत्र अपने श्लोक भी जोड़ दिए थे। कराला देवी की स्तुति ऐसा ही श्लोक है। एक निष्ठावान संस्कृत विद्वान ने उसे किसी प्राचीन संस्कृत का श्लोक मानकर एक बार उसकी ऐसी व्याख्या की कि मैं कुछ विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि आपने स्वप्न में भी उसका ऐसा अर्थ नहीं सोचा होगा। हालाँकि कोई भी नहीं बता सकता कि वह या कोई अन्य व्यक्ति स्वप्न में सोचेगा और क्यों सोचेगा। फिर भी मनुष्य का मन अटकल तो लगाता ही रहता है। लेकिन प्रति वर्ष में तो आपने अपभ्रंश के दोहे और पद भी गढ़कर चला दिये हैं। आप और लोगों को चाहे भ्रम में डाल दें परन्तु मुझसे आपका कुछ भी छिपा नहीं है। भ्रम में पड़ने वाले कोई और होंगे।

मुझे अच्छी तरह याद है कि आपने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में लिखा था कि "भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया है, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पना विलास का अधिक मान था, तथ्य निरूपण का कम; सम्भावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए हैं। राजा का विवाह, शत्रु-विजय, जलक्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति—ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं। क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और सम्भावनाओं का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते हैं, युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि सम्भावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे, यह तथ्य अनेकों विवाहों की सम्भावना उत्पन्न करता है, जलक्रीड़ा और वनविहार की सम्भावना की ओर संकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तर काल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है।

ऐतिहासिक विद्वान के लिए संगति मिलाना कठिन हो जाता है।" मैंने उस समय आपसे पूछा था कि "इसको आप अच्छा समझते हैं या बुरा।" आपने सीधे जवाब न देने की अपनी शैली में कहा था, "आधुनिक इतिहासवेत्ता झुँझला जाते हैं लेकिन जो सहृदय हैं, जिनकी दृष्टि रस ग्रहण करने की है उन्हें तो यह अच्छा ही लगता है।" मैंने आपसे फिर प्रश्न किया था कि "आज के युग में इस प्रकार का रस-प्रधान कोई कथाकाव्य लिखा जाए तो कैसा हो।" आपने हँसकर कहा था, "कोई शक्तिशाली आधुनिक कथाकार इसका प्रयोग करे और इतिहास रस को बचाते हुए इस विशुद्ध भारतीय दृष्टि से निजंधरी कथाओं का प्रयोग करे तो परिणाम अच्छा भी हो सकता है।" मैंने कहा था, "किसी शक्तिशाली कथाकार की प्रतीक्षा करने के स्थान पर स्वयं ही आप ऐसा प्रयोग करें तो कैसा हो!" आपने, मेरी दृष्टि में ईमानदारी के साथ ही, कहा था कि "प्रयोग करने से ही तो उत्तम रचना नहीं बन जाती।" और फिर अनमने भाव से कहा था, "करके देखा भी जा सकता है।" बात बहुत पुरानी है, मैं ठीक से कह नहीं सकता कि आपको उस समय का वार्तालाप याद है कि नहीं। परन्तु 'पुनर्नवा' पढ़ने के बाद मैं इस निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा कि आपने प्रयोग कर दिया है। आप मेरे सम्बन्ध में कहा करते हैं कि मैं आलोचक हूँ, सहृदय नहीं। फिर भी मुझे यह साहित्यिक प्रयोग रुचा है, जो सहृदयों को लक्ष्य करके लिखा गया है; वह अच्छा लगा है। मुझे ऐसा लगता है कि आजकल के आधुनिक कथाकार यह भूल ही जाते हैं कि कथा में साहित्य रस का होना आवश्यक है। मुझे खुशी है कि आप नहीं भूले हैं।···

मुझे मालूम है कि जब आप नीरस कामों से थक जाते हैं तो इस प्रकार के गप्पों की रचना में विश्राम पाते हैं। 'कालिदास की लालित्य योजना' लिखते समय आपके चित्त में अनेक मूर्तियाँ उभरी थीं जिन्हें आप रूपायित करना चाहते थे। शोधकार्यों में पग-पग पर प्रमाण की आवश्यकता होती है और कल्पना को यथासम्भव दूर ही रखने का प्रयत्न होता है। आप ऊबे हुए थे। आप चाहते थे कि 'भावानुप्रवेश' को प्रत्यक्ष दिखाएँ और इसलिए आपने 'पुनर्नवा' का आरम्भ किया था···"[1]

द्विवेदी जी के पत्र से इस लम्बे अंश को उद्धृत करने का प्रयोजन खुद उनके

---

1. पत्र : हजारी प्रसाद द्विवेदी : (सं०) मुकुन्द द्विवेदी, पृ० 9-11

ही शब्दों में उनकी उपन्यास-रचना-प्रक्रिया का साक्षात् कराना है। द्विवेदी जी ने बहुत तटस्थ होकर अपने उपन्यासों की जिन विशेषताओं को रेखांकित किया है सचमुच वे ही उनके उपन्यासों की विशेषताएँ हैं। द्विवेदी जी अपने उपन्यासों में काल्पनिक घटनाओं का समावेश करते हैं और पाठक में उनके सत्य होने का भ्रम पैदा करते हैं। उनका ध्यान विवरण संग्रह और तथ्य निरूपण की ओर कम होता है, इतिहास की सम्भावनाओं की ओर अधिक। वे इतिहास रस को बचाते हुए विशुद्ध भारतीय दृष्टि से निजन्धरी कथाओं का प्रयोग करते हैं और कथा में साहित्य रस की एक अद्भुत सृष्टि करते हैं। द्विवेदी जी जैसे अपने चिन्तन में पश्चिम से आक्रांत नहीं हैं वैसे ही अपने रचना-शिल्प में भी। उनके उपन्यासों का रचना-शिल्प पूरी तरह से भारतीय है। जिसे हम यथार्थवादी उपन्यास कहते हैं, वैसे उपन्यास द्विवेदी जी के नहीं हैं। वे बिलकुल अलग क़िस्म के उपन्यास हैं। कथारस और साहित्य-रस से लबालब। इस अर्थ में द्विवेदी जी के उपन्यास हिन्दी में अद्वितीय हैं। उनका रूपात्मक ढाँचा और उनकी भाषा अप्रतिम है। इस संदर्भ में उनके उपन्यासों की तुलना किसी दूसरे लेखक के उपन्यासों से नहीं की जा सकती।

अपनी भाषा पर द्विवेदी जी का जबरदस्त अधिकार है। संस्कृत का पांडित्य उनके उपन्यासों पर छाया रहता है। अपने वर्णन-कौशल के लिए द्विवेदी जी विख्यात हैं। चाहे प्राकृतिक दृश्य हों या नगर या नृत्य या संगीत—द्विवेदी जी अत्यन्त मनोहारी वर्णन करते हैं। द्विवेदी जी की उपन्यास भाषा अति काव्यात्मक और अलंकृत भाषा है पर कहीं भी वह अस्वाभाविक नहीं लगती। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लम्बे अन्तहीन काव्यात्मक वाक्य संस्कृत कवि बाणभट्ट की शैली का अनुसरण करते हैं और यह भ्रम पैदा करने की कोशिश करते हैं कि यह कादम्बरीकार की ही रचना है। इसमें वर्णन इतिवृत्तात्मक नहीं है, चित्र प्रस्तुत करनेवाले हैं। बिम्बधर्मिता इस भाषा की विशेषता है। इस भाषा में एक संगीतात्मक लय है, एक धारा का प्रवाह। भाषा का यह छन्द द्विवेदी जी के अन्य उपन्यासों की भी विशेषता है। सूक्ष्मतम अनुभवों और भंगिमाओं को व्यक्त करने वाली यह भाषा एक अत्यन्त समर्थ भाषा है। यह संस्कृतनिष्ठ समास-बहुल भाषा भी है और अत्यन्त सहज लोकभाषा भी। द्विवेदी जी भाषा के इन दोनों रूपों का स्वाभाविक निर्वाह करते हैं। शास्त्रीय भाषा के बीच सहसा आंचलिक प्रयोग द्विवेदी जी का कौशल है। भावों, परिस्थितियों और चरित्रों के अनुकूल भाषा को मोड़ते जाना द्विवेदी जी की विशेषता है। उनके उपन्यासों में संस्कृत के अप्रचलित शब्द मिलेंगे तो अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्द भी और ग्रामीण आंचलिक शब्द भी। बीच-बीच में वे हास्य और व्यंग्य के ऐसे प्रसंग जोड़ देते हैं कि वातावरण की सारी बोझिलता हवा हो जाती है।

कुछ विद्वान द्विवेदी जी के उपन्यासों की भाषा को क्लिष्ट भी कहते है पर द्विवेदी जी के उपन्यासों में ऐसा चमत्कार पैदा करने के लिए सायास नहीं किया गया है। यह भाषा परिस्थिति अर्थात देश-काल की सहज माँग से पैदा हुई है। भाषा के सम्बन्ध में स्वयं द्विवेदी जी अपने 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं :

> "मनुष्य अपने आहार और निद्रा के साधनों को जुटाने के लिए जिस भाषा का व्यवहार करता है वह उसकी अनायास लब्ध भाषा है; परन्तु यदि उसे इस धरातल से ऊपर उठाना है तो उतने से काम नहीं चलेगा। सहज भाषा आवश्यक है। पर सहज भाषा का मतलब है सहज ही महान बनानेवाली भाषा, रास्ते में बटोरकर संग्रह की हुई भाषा नहीं। सीधी लकीर खीचना टेढ़ा काम है। सहज भाषा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नही होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर अदना आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा का अर्थ स्थिर नही किया जा सकता। क्या कहने या क्या न कहने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श तक पहुँच सकेगा, जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है, यही बात मुख्य बात है।"[1]

कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी के उपन्यासों की भाषा रास्ते से बटोरकर संग्रह की हुई भाषा नहीं है बल्कि सहज ही मनुष्य को उच्चतर आदर्श तक पहुँचाने वाली, उसे महान बनानेवाली, भाषा है।

द्विवेदी जी 'पुनर्नवा' को छोड़कर अपने शेष तीनों उपन्यासों में पाठकों को भ्रम में डालने के लिए एक औपन्यासिक छल की सृष्टि करते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' में आरम्भ में 'कथामुख' और अन्त में 'उपसहार' का विधान करके द्विवेदी जी मूल लेखक के बारे में भ्रम पैदा करते हैं। 'अनामदास का पोथा' में भी अनामदास नाम के एक छद्म व्यक्ति आरम्भ और अत में उपस्थित हो जाते हैं। द्विवेदी जी का यह शिल्प इन उपन्यासों में सर्जनात्मक छूट ले लेने का एक हथियार बन जाता है और जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, वे ऐतिहासिक तथ्यों में सम्भावनाओं और निजंधरी कथाओं का एक विचित्र समावेश कर देते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' हर्षकालीन भारत को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है। यह 'कादम्बरी' के प्रसिद्ध लेखक बाणभट्ट का जीवनवृत्त है जिसे

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खण्ड 10, पृ० 33

उपन्यासकार ने 'आत्मकथा' के रूप में प्रस्तुत किया है। कथा का अधिकांश भाग 'कादम्बरी' और 'हर्षचरितसार' पर आधारित है। उपन्यास की शैली भी कादम्बरी से मिलती-जुलती है, खासकर दृश्य वर्णनों में। इस उपन्यास के अनेक प्रसंगों को उपन्यासकार ने रत्नावली, कुमारसंभव, मेघदूत, मृच्छकटिक, नाट्यशास्त्र, महाभारत आदि ग्रन्थों से पुष्ट किया है। भारतीय परम्परा, आचार-विचार, उत्सव, रहन-सहन तथा प्रकृति चित्रण आदि के सन्दर्भों को उपर्युक्त ग्रन्थों के हवाले से प्रामाणिक बनाने की कोशिश की गई है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट, हर्षवर्धन, राज्यश्री तथा कुमार कृष्णवर्धन ऐतिहासिक पात्र हैं। बाणभट्ट का हर्षवर्धन के दरबार में जाना और उसका सभा पंडित बनना इतिहास प्रसिद्ध है। इतिहास ग्रन्थों में हर्षवर्धन के किसी चचेरे भाई का तो उल्लेख नहीं मिलता पर 'हर्षचरितसार' में कृष्णवर्धन का उल्लेख मिल जाता है। आत्मकथा के शेष पात्र—तुवरमिलिन्द, लोरिकदेव, भट्टिनी, निपुणिका, सुचरिता आदि लेखक की कल्पना की सृष्टि हैं। तुवरमिलिन्द भट्टिनी के पिता हैं जो उपन्यास में प्रत्यक्ष रूप में तो नहीं आते पर उनका महान प्रतापी और यशस्वी चरित्र पूरे उपन्यास पर छाया रहता है। उनके लिए जिन विशेषणों का प्रयोग उपन्यास में हुआ है उनसे स्पष्ट है कि वे भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के कोई महान शक्तिशाली नरेश हैं। द्विवेदी जी ने स्वयं लिखा है कि 'ऐतिहासिक दृष्टि से तुवरमिलिन्द एक समस्या है।' इसी प्रकार लोरिक देव भी एक समस्या बन जाता है। लोरिक देव की चर्चा लोक साहित्य में तो है पर इतिहास ग्रन्थों में नहीं। द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की आत्मकथा में उसे हर्षवर्धन (606-47 ई०) का समकालीन दिखाया है और 'पुनर्नवा' में समुद्रगुप्त (लगभग 330 से 380 ई०) का भी। यह ऐतिहासिक काल की दृष्टि से सम्भव नहीं है।

'चारुचन्द्रलेख' में चन्द्रलेखा, गोरखनाथ, सीदी मौला आदि पात्र ऐतिहासिक हैं तो बोधा, मैना, विद्याधर आदि काल्पनिक। इस उपन्यास में पृथ्वीराज की पराजय, जयित्रचन्द्र की मृत्यु, कालिंजर दुर्ग का पतन, सारनाथ और नालन्दा के विहारों का ध्वंस, लक्ष्मणसेन की मृत्यु आदि ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख हुए हैं। ये घटनाएँ भारतीय इतिहास में लगभग 1190 से 1205 ई० के बीच घटित हुई थीं। इस अवधि में मालवा नरेश सातवाहन की कल्पना और उसकी सेना द्वारा तुर्कों की पराजय का वर्णन एक ऐतिहासिक सम्भावना है जिसका उपयोग द्विवेदी जी करते हैं। उस काल की उत्तर भारत की राजनीतिक हलचलों को देखते हुए उपन्यासकार की यह कल्पना अस्वाभाविक नहीं लगती।

'पुनर्नवा' में समुद्रगुप्त एक ऐतिहासिक चरित्र है। एक दूसरा चरित्र है चन्द्रमौलि जो वस्तुतः संस्कृत कवि कालिदास से अभिन्न है। इस उपन्यास के शेष

लगभग सभी पात्र—देवरात, गोपाल आर्यक, श्यामरूप, सुमेर काका, मंजुला मृणाल मंजरी, चन्द्रा आदि— लेखक की कल्पना की उपज हैं। इनमें से कुछ लोक में प्रचलित चरित्र है जिनकी ऐतिहासिकता लोक विश्वास मात्र है। द्विवेदी जी ने लोरिक-चन्दा की लोकगाथा, शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के कुछ प्रसंग तथा मातृगुप्त को कालिदास के रूप में स्वीकार करके एक कल्प-सृष्टि की है। 'पुनर्नवा' के चरित्रों के बारे में व्योमकेश शास्त्री के छद्‌मनाम से लिखे गये पत्र में वे कहते हैं :

> "मैं जानता हूँ कि 'पुनर्नवा' के पात्र वास्तविक जीवन से लिए गए हैं। वह पूरा परिवेश आपका अत्यन्त परिचित और आत्मीय है जिसमें कथा को जड़ा गया है। हलद्वीप आधुनिक हल्दीप है; द्वीपखण्ड, दुबहड़ है; च्यवन भूमि, जप ही है, यह तो लोग अन्दाज़ से समझ भी सकते हैं; परन्तु द्वीपखण्ड का सरस्वती विहार जो आपकी अपनी जन्मभूमि है यह कम लोग समझ पाएँगे। मैं आपका अत्यन्त निकट आत्मीय होने के कारण चन्द्रा और सुमेर काका को पहचानता हूँ। श्यामरूप और गोपाल आर्यक को बहुत अच्छी तरह जानता हूँ और आर्य देवरात भी मेरे जाने हुए हैं। इन चरित्रों मे जो-जो सामान्य स्तर से अधिक उत्कर्ष आपने दिखाया है वह भी यथार्थ पर आश्रित है, ऐसा मेरा विश्वास है, परन्तु इन जाने-माने गाँवों के चरित्रों को आपने जो गरिमा दी है, वह आपका विशिष्ट अवदान है। किसी दूसरे के हाथ में पड़ने पर ये कदाचित् और तरह के हो जाते। हर लेखक का अपना व्यक्तित्व और संस्कार होता है और वह उसके पात्रों में प्रतिफलित होता है, परन्तु विश्वास मानिए कि ये चरित्र आज भी जीवन्त हैं। इस क्षेत्र के देहातों में घूमते समय मैंने पाया है कि ये चरित्र केवल पुस्तक तक सीमित नहीं हैं, प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, बात करते हैं और प्रच्छन्न भाव से सहृदयों को आमन्त्रित करते है कि 'मुझे पहचानो, मुझे उजागर करो।'...
>
> आपने साहसपूर्वक 'मृच्छकटिक' के गोपाल आर्यक और शार्विलक को लोककथा में प्रसिद्ध लोरिक और साँवरू से जोड़ने का प्रयास किया है, साथ ही चारुदत्त और वसन्तसेना की कथा को ऐतिहासिक आवरण से मुक्त करके निजन्धरी कथा में ले आने का साहस किया है। मेरी दृष्टि में यह उचित हुआ है, परन्तु उसी साहस और स्पष्टता के साथ आप कालिदास को नहीं उभार सके। उभारते-उभारते रुक गए हैं। मेरा आपसे अनुरोध है कि इस कमी को पूरा करें, भले ही कोई और गप्प मारने की योजना बनानी पड़े।"[1]

---

1. पत्र : हजारीप्रसाद द्विवेदी : (सं०) मुकुन्द द्विवेदी : पृ० 10-11

'अनामदास का पोथा' औपनिषदिक युग का चित्रण करनेवाला उपन्यास है जिसका आख्यान ख़ास तौर से 'छान्दोग्य' और 'बृहदारण्यक' उपनिषद् पर आधारित है। अन्य उपनिषदों से भी कुछ सामग्री ली गई होगी। क्योंकि इस उपन्यास का आधार ऐतिहासिक काल नहीं है अतः इसके ऐतिहासिक यथार्थ की परीक्षा भी कठिन है। इस उपन्यास के कुछ चरित्र उपनिषदों से लिए गए हैं लेकिन अधिकांश लेखक की कल्पना की उपज हैं। रैक्व, जानश्रुति, जाबाला और औषस्ति छांदोग्य से लिए गए हैं। ऋजुका, माया, अरुन्धती, जटिल मुनि आदि कल्पित हैं। वैसे जिन चरित्रों का औपनिषदिक आधार है वे भी मुख्यतः कल्पना से ही गढ़े गए हैं।

द्विवेदी जी के उपन्यासों में नारी चरित्रों को पर्याप्त महत्त्व मिला है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी और निउनिया, 'चारुचन्द्रलेख' मे चन्द्रलेखा और मैना तथा 'पुनर्नवा' में चन्द्रा और मंजुला के चरित्र इसी प्रकार के हैं। निउनिया, मैना और चन्द्रा के चरित्र बहुत ही क्रियाशील और गतिशील चरित्र हैं। वस्तुतः नारी के प्रति द्विवेदी जी की दृष्टि दार्शनिक दृष्टि है। वे नारी को शक्तिरूपा मानते हैं। उनके अनुसार पुरुष ने नारी को ठीक-ठीक समझने की कोशिश नहीं की अन्यथा दुःख और यातना का यह भवसागर सूख गया होता। पुरुष नारी को नगण्य समझकर उसकी उपेक्षा करता है पर वह नहीं समझता कि नारी के सहयोग के बिना उसका पुरुषार्थ बंजर है। द्विवेदी जी गृहस्थ जीवन के समर्थक हैं और नारीहीन तपस्या को संसार की सबसे बड़ी भूल मानते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उन्होंने भट्टिनी के रूप में नारी के चरम आदर्श रूप को प्रस्तुत किया है। भट्टिनी के सम्पर्क में बाणभट्ट की मनुष्यता देवत्व की ओर अग्रसर दिखाई पड़ती है। बाणभट्ट स्वयं नारी शरीर को देवता का मन्दिर समझता है। निपुणिका के रूप में द्विवेदी जी ने नारी के आत्मबलिदान का एक दुर्लभ चित्र खींचा है। यह प्रेम के सात्त्विक रूप की चरम परिणति है। 'पुनर्नवा' की मंजुला एक नर्तकी है पर लेखक ने उसके चरित्र को जिस तरह गौरवान्वित किया है, उसके साथ जिस समवेदना का अनुभव किया है और उसकी पवित्रता को जिस सात्त्विक हृदय से रेखांकित किया है वह अद्भुत है।

उदात्त और महान चरित्रों का सृजन करने में द्विवेदी जी विशेष रुचि दिखाते हैं। उनके उपन्यासों के अधिकांश पात्र विद्वान, योद्धा, कला मर्मज्ञ और परदुःखकातर होते हैं। उनमें त्याग, बलिदान और प्रेम की एक अन्तर्धारा प्रवाहित होती है। बाणभट्ट, निपुणिका, भट्टिनी, चन्द्रलेखा, देवरात, मंजुला, गोपाल आर्यक, चन्द्रा, रैक्व, शुभा आदि चरित्र इसी प्रकार के हैं। बीच-बीच में देवदर्शन, स्वप्नदर्शन तथा सिद्धियों आदि के चमत्कार भी आते हैं पर द्विवेदी जी उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उन्हें विश्वसनीय बनाने की चेष्टा करते हैं। उनकी

दृष्टि पात्रों की मानसिक हलचलों के गहन विश्लेषण-उद्घाटन की ओर होनी है। द्विवेदी जी के उपन्यासों पर यह आरोप लगाया गया था कि उनमें नारी-पुरुष प्रेम का मुक्त चित्रण प्राप्त नहीं होता। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी, निपुणिका और स्वयं बाण के भीतर प्रेम की एक अदृश्य अंतःसलिला प्रवाहित होती रहती है। इसी प्रकार 'पुनर्नवा' में भी देवरात मंजुला के प्रेम को भीतर-ही भीतर छिपाकर रह जाते हैं। द्विवेदी जी में सांसारिक प्रेम के प्रति संकोच का एक सलज्ज भाव दिखाई पड़ता है। पर 'पुनर्नवा' में गोपाल आर्यक और चन्द्रा का प्रेम-प्रसंग दूसरे प्रकार का है। चन्द्रा की उद्दाम यौवन-लालसा का चित्रण करके द्विवेदी जी ने उपर्युक्त आरोप को झूठा साबित कर दिया है। वे एक स्थान पर स्वीकार करते हैं :

> "गणिका होकर भी जो साहस मंजुला नहीं कर सकी वह साहस कुलांगना होकर चन्द्रा कर बैठी। इस उद्दाम प्रेम का निदर्शन खोजना कठिन है।"[1]

आज जिस नारी स्वातंत्र्य या नारी मुक्ति आन्दोलन की चर्चा हो रही है उसे उपन्यासकार ने उस युग के चरित्रों में दिखाकर निश्चय ही उपन्यास को ढाँचे के बाहर खींचने की कोशिश की है। मृणाल सोचती है :

> "केवल पुरुष-शक्ति की पूजा ही क्या स्त्री धर्म है? सिंहवाहिनी की उपासना का मतलब क्या इतना ही है कि महिष-मर्दन का काम पुरुषों पर छोड़कर स्त्रियाँ उनकी आरती उतारा करें? स्त्रियों का धर्म आगे बढ़कर अधर्माचार का विध्वंस करना नहीं है? स्त्री को पुरुष की सह-धर्मिणी बनना पड़ता है। यह कैसा सहधर्म है कि पुरुष युद्ध करे और स्त्रियाँ उसकी आरती उतारती रहें।"[2]

द्विवेदी जी के उपन्यासों में आकस्मिक संयोगों पर बढ़ती हुई कथा उनके कथाशिल्प की और औपन्यासिक यथार्थ की एक कमज़ोरी है। हर पात्र का अचानक मिलते जाना कुछ स्वाभाविक नहीं लगता। यह प्रसाद के नाटकों के सयोगों का स्मरण कराता है। उपन्यासकार द्विवेदी में कथा का इतना आग्रह है कि वह हर कथा-प्रसंग को पूरा जरूर करना चाहते है चाहे पाठक का कुतूहल भले ही पूरा हो गया हो और उसके लिए वह भले ही ग़ैरज़रूरी हो गया हो। जब कथा आगे बढ़ गई हो तो उसके घटना-प्रसंग बाद के अध्यायों में आकर निरर्थक हो जाते हैं। चरित्रों की व्याख्या के लिए भी लेखक ने कथा को कहीं-कहीं अनावश्यक ढंग से दुहराया है। यह पुनरावृत्ति द्विवेदी जी के सभी उपन्यासों में मिलेगी। कथा में

---

1. पुनर्नवा, पृ० 273
2. वही, पृ० 41

दैवी शक्तियों के चमत्कारों आदि से भी औपन्यासिक यथार्थ बाधित होता है पर ऐसे स्थलों पर द्विवेदी जी कथा को तांत्रिकों और साधकों आदि से सम्बद्ध करके उसके यथार्थ की सम्भावना की रक्षा करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्विवेदी जी घटनाओं की ऐतिहासिकता के प्रति पूरे सतर्क नही हैं और कहीं-कहीं अपनी कल्पना की स्वेच्छाचारिता का परिचय देते हैं पर वास्तविकता यह है कि इतिहास का प्रस्तुतिकरण उनका लक्ष्य ही नही है। वे कथा को किसी प्रख्यात ऐतिहासिक घटना या राजपुरुष से सम्बद्ध करके उसके इतिहास सम्मत होने का भ्रम तो पैदा करते हैं पर बीच-बीच में काल्पनिक घटनाओं और लोकजीवन की गाथाओं को ऐसे कौशल से भर देते हैं कि पाठक सम्मोहित होकर उनकी संगति-असंगति का विवेक भूल जाता है और उन्हें सच के रूप में ग्रहण करने लगता है। वस्तुत: अपने उपन्यासों में द्विवेदी जी का लक्ष्य काल विशेष की जीवनधारा और चेतना का चित्रण-विश्लेषण होता है। अत: उनके उपन्यासों में इतिहास की घटनाओं की अपेक्षा तत्कालीन जीवन और संस्कृति का विश्वसनीय चित्र ढूँढ़ना ज्यादा सार्थक है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में तत्कालीन समाज व्यवस्था, संस्कृति और राज-नीति का बड़ा ही प्रामाणिक चित्रण हुआ है। एक ओर भारत पर विदेशी आक्रमण हो रहे हैं और दूसरी ओर भारतीय समाज अनेक जातियों और वर्गों में विभाजित है। भट्टिनी कहती है :

> "मैंने अनेक देश देखे हैं, अनेक जातियाँ देखी हैं···परन्तु आर्यावर्त जैसी विचित्र व्यवस्था मैंने कहीं नही देखी। यहाँ इतना स्तर भेद है कि मुझे आश्चर्य होता है कि यहाँ के लोग कैसे जीते हैं।"

आर्यावर्त की जनता राजनीतिक दृष्टि से उदासीन और तटस्थ है। महामाया भैरवी अपने ओजस्वी भाषण में देश के युवकों को देवपुत्रों और महाराजाधिराजों की आशा छोड़कर स्वयं संगठित होने और म्लेच्छवाहिनी का सामना करने के लिए उदबुद्ध करती है। वह आर्यावर्त के ब्राह्मण और चांडाल को एक होने का संदेश देती है। इस उपन्यास में मांगलिक अवसर पर होने वाले समारोहों, जुलूसों, मदनोत्सव, उपवन-विहार, नृत्य, हर्ष की राजसभा, छोटे महाराज के अन्त:पुर की व्यवस्था, नाटकों के अभिनय, मदनोत्सव में पुरवासियों के उत्साह, उनकी वेशभूषा आदि का कलात्मक वर्णन हुआ है। उस काल के समाज में ब्राह्मण को विशेष सम्मान प्राप्त था। उच्च वर्ग की महिलाओं में पर्दे का रिवाज़ भी था। राजाओं के अन्त:पुर में किसी बाहरी व्यक्ति के प्रवेश पर बहुत कड़ा प्रतिबन्ध था। हर्षकालीन भारत की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था, उसकी विलासिता, कामुकता तथा विलासप्रियता आदि का जो वर्णन 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हुआ है वह काल्पनिक नही है बल्कि तत्कालीन काव्य ग्रन्थों के साक्ष्य पर प्रस्तुत है।

'चारुचन्द्रलेख' में देश की राजनीतिक-धार्मिक अराजकता तथा नाथपंथी योगियों और वज्रयानी सिद्धों के चमत्कारों आदि का विशेष वर्णन हुआ है। इस उपन्यास में अन्धविश्वास, पारस्परिक कलह, स्त्री जाति के शोषण आदि से विश्रृंखल समाज अपने अस्वस्थ रूप में हमारे सामने आता है। विभिन्न प्रकार की साधनाओं और तांत्रिक अनुष्ठानों के वर्णनों से पूरा उपन्यास भरा पड़ा है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का समय भारतीय इतिहास में राजनीतिक और सांस्कृतिक पतन का समय है। इस समय की जड़ीभूत चेतना को यह उपन्यास सामने लाता है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में सामन्ती संस्कृति और तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था को रूपायित किया गया है। उज्जयिनी और मथुरा नगरी का वर्णन, राजदरबारों का चित्रण, गुप्त-कालीन नृत्य, संगीत आदि कलाओं का विश्लेषण, मन्दिरों और मूर्तियों आदि का वर्णन इस उपन्यास में ख़ास तौर से हुआ है। 'अनामदास का पोथा' में उपनिषद कालीन संस्कृति का—आश्रमों के जीवन और तत्कालीन लोकजीवन का चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में द्विवेदी जी नर-नारी के सहज आकर्षण और स्वस्थ प्रेम का चित्रण करते हुए तत्कालीन प्रवृत्ति मार्ग के दर्शन को रेखांकित करते हैं। केवल तप निवृत्ति मार्ग है। द्विवेदी जी कर्म का, प्रवृत्ति का दर्शन स्वीकार करते हैं। यह जंगल की एकान्त समाधि से जीवन की ओर मोड़नेवाला, और क्रियामार्ग में प्रवृत्त करनेवाला उपन्यास है।

द्विवेदी जी मनुष्य के भीतर के देवता को बहुत महत्त्व देते हैं। वे अन्तर्यामी को ही प्रमाण मानते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाबा कहते हैं :

> "देख रे, तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं; जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भूलने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं।"[1]

'पुनर्नवा' में देवरात मंजुला से कहते हैं :

> "तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। कोई बाहरी शक्ति किसी का उद्धार नहीं करती। यह अन्तर्यामी देवता ही उद्धार कर सकता है।"[2]

इस अन्तर्यामी देवता को प्रमाण न मानने के कारण गोपाल आर्यक की वीरता लोकापवाद की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो जाती है। वह चन्द्रा और मृणाल दोनों को छोड़कर भागा-भागा फिरता है। 'पुनर्नवा' का लेखक लोकापवाद और लोकस्तुति दोनों को झूठ मानता है। गोपाल आर्यक स्वप्न देख रहा है—मानो मृणाल उससे कह रही है :

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० 74
2. पुनर्नवा, पृ० 22

"लोक का भय मिथ्या है। कर्त्तव्य का निर्णय बाहर देखकर नहीं किया जाता। तुम्हारा निर्णायक तुम्हारे भीतर है।...लोकभय झूठी प्रवंचना है, आत्मभय दुर्भेद्य कवच है।...कौन क्या कहता है, कहने दो। तुम्हारा अन्तर्यामी क्या कहता है, वही मुख्य वस्तु है।"[1]

लोकोपवाद और लोकस्तुति दोनों की उपेक्षा करके अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ को ही महत्त्व देने की बात लेखक ने अपने अन्य उपन्यासों में भी की है। 'अनामदास का पोथा' में महर्षि औषस्ति कहते हैं :

"किसी की बात पर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक स्वयं उसकी परीक्षा न कर ली जाए। तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध रूप से बैठे हैं उनको पहचानो। वे तुम्हारा ठीक मार्ग-दर्शन करेंगे। वही प्रज्ञा रूप है।"[2]

भीतर के देवता को द्विवेदी जी इतना महत्त्व देते हैं इसका यह अर्थ नहीं कि वे लोक की उपेक्षा करते हैं। वस्तुतः वे ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु को देवता मानते है।[3] उनके अनुसार :

"सारा चराचर जगत उसी परम वैश्वानर का प्रत्यक्ष विग्रह है जिसका एक अंश तुम्हारे अंतरतर में प्रकाशित हो रहा है।"[4]

चिन्तन के इस स्तर पर पहुँचकर व्यक्ति और लोक में कोई विरोध नहीं रह जाता। इसलिए द्विवेदी जी 'परम वैश्वानर' और 'महा अज्ञात' के प्रति समर्पण की बात करते है और सारे ज्ञान भण्डार को लोकमंगल की कसौटी पर कसना चाहते हैं। 'अनामदास का पोथा' में रैक्व कहते हैं :

"मेरे पास अगर बुद्धि की परीक्षा लेने आएगी तो उसे गाड़ी खींचकर दीन-दुखियों तक खाद्य पहुँचाने को कहूँगा। इसी में उसकी बुद्धि की परीक्षा हो जाएगी। माँ, जो दीन-दुखियों की सेवा नहीं कर सकता, वह क्या बुद्धि की परीक्षा करेगा! मैं अब थोड़ा-थोड़ा रहस्य समझने लगा हूँ। कोरा वाग्-वितण्डा ज्ञान नहीं है।"[5]

द्विवेदी जी आत्मदान में ही मनुष्य की सिद्धि मानते है। इसका स्वर उनके सभी उपन्यासों में सुनाई पड़ता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में "अपने को निःशेष भाव से दे देना" और "दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़ देने" की बात कही

---

1. पुनर्नवा, पृ० 110
2. अनामदास का पोथा, पृ० 152
3. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० 74
4. अनामदास का पोथा, पृ० 132
5. वही, पृ० 89

गई है। निपुणिका इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'पुनर्नवा' मे भी उपन्यास-कार के अनुसार :

> "सच्चा सुख अपने आप को दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर उपलब्ध माधुर्य रस को लुटा देने में है।"[1]

मंजुला भाव रूप में उपस्थित होकर देवरात को यही सन्देश देती है :

> "तुम पाना चाहते हो ? कैसे पाओगे प्रभो ! भगवान ने तुम्हें ग्रहीता भाव दिया ही नहीं है। तुम्हारा स्वभाव देना है, लुटाना है, अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर महाअज्ञात के चरणों में उड़ेल देना है।"[2]

द्विवेदी जी के पात्रों के सात्त्विक प्रेम का अन्त आत्मदान मे ही होता है। यह आत्मदान द्विवेदी जी के अनुसार सबसे बड़ा तप है। 'अनामदास का पोथा' में ऋषि औषस्ति कहते है :

> "सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है दूसरों के सुख के लिए अपने को दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना। इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं।"[3]

द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों के लिए जो क्षेत्र चुना है वह अतीत है पर द्विवेदी जी की दृष्टि अतीतोन्मुखी नही, आधुनिक है। वे अतीत की सम्भावनाओं को वर्तमान के सन्दर्भ में उजागर करते है। उसकी पुनर्रचना करते हैं। उनके उपन्यास अतीत का बयान नही करते न अतीतकालीन संस्कृति का चित्रण करके रह जाते है। उनमे आधुनिक मनुष्य अपनी सम्पूर्ण सत्ता के साथ उपस्थित है। अपनी सोच, अपनी कल्पना और जिजीविषा और अपने गुस्से के साथ भी। उनमें आज का सारा परिवेश अपनी तीव्र प्रश्नानुकूलता के साथ उपस्थित है। द्विवेदी जी के उपन्यास अतीत और वर्तमान की दूरी मिटा देते हैं। उनमें अतीत वर्तमान लगता है और वर्तमान अतीत। यह एक प्रकार की अद्भुत फ़ैंटेसी भी है और यथार्थ भी। इतिहास भी और कल्पना भी।

द्विवेदी जी आधुनिक संदर्भो में अतीत की नयी व्याख्या करते है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मे महावाराह का बार-बार-बार उल्लेख हुआ है। पुराणों क अनुसार विष्णु के एक अवतार महावाराह ने जल मे डूबी हुई धरती का उद्धार किया था। इस उपन्यास मे भी भट्टिनी धरती की तरह है जिसका उद्धार बाणभट्ट को करना है। द्विवेदी जी ने महावाराह के मिथक को ही क्यों चुना ? आज के

---

1. पुनर्नवा, पृ० 130
2. पुनर्नवा, पृ० 246
3. अनामदास का पोथा, पृ० 59

संदर्भ में इस मिथक का चुनाव बहुत ही अर्थवान और महत्त्वपूर्ण है। कल्मष और कीचड़ में धँसी हुई धरित्री की तरह ही आज उच्चतर मानवमूल्य भी धूलि-धूसरित हो रहे है। उनका उद्धार हमारे युग की सबसे बड़ी चिन्ता है। जाति-वर्गो मे जनशक्ति का विभाजन उस काल की अशान्ति और बिखराव का तो कारण था ही आज की अशान्ति और बिखराव का भी कारण है। भट्टिनी बाणभट्ट से कहती है :

> "तुम यदि किसी यवन कन्या से विवाह करो तो इस देश मे यह एक भयंकर सामाजिक विद्रोह माना जायेगा। परन्तु यह क्या सत्य नहीं है कि यवन-कन्या भी मनुष्य है और ब्राह्मण युवा भी मनुष्य है।"

भट्टिनी महसूस करती है कि मनुष्य लोभवश, मोहवश, द्वेषवश पशुता की ओर बढ़ता जा रहा है। वह बाणभट्ट से आशा करती है कि वह उन्हें संवेदनशील और कोमल बना सकता है। वह बाणभट्ट से कहती है :

> "तुम आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो, तुम्हारे मुख से निर्मल वाग्धारा झरती है।·· तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है। तुम इस म्लेच्छ कही जानेवाली निर्दय जाति के चित्त में संवेदना का संचार कर सकते हो, उन्हें स्त्रियों का सम्मान करना सिखा सकते हो, बालकों को प्यार करना सिखा सकते हो।"

प्रेम और करुणा के ये मूल्य मनुष्य के उच्चतर मूल्य है जो तब जितने ज़रूरी थे, अब भी उतने ही ज़रूरी हैं।

'चारुचन्द्रलेख' में द्विवेदी जी उस युग के द्वन्द्व और संशय मे आज के युग को पहचानने की कोशिश करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि राजाओं का युग समाप्त हो गया। अब कहीं आशा बची है तो प्रजा की संगठित शक्ति में। सिद्धियों और चमत्कारों का विरोध करते हुए वे कहते हैं कि सिद्धियाँ मनुष्य को कुछ नहीं दे सकतीं। एक साधारण किसान जिसमें दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है वह भी बड़े-से-बड़े सिद्ध से ऊँचा है। इस उपन्यास का सीदी मौला कहता है :

> "मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आर्यावर्त्त नाश के कगार पर खड़ा है, भेद-बुद्धि से जर्जर, स्वार्थ और लिप्सा से अंधा, ग्रहग्रहीत भारतवर्ष महानाश की ओर बढ़ रहा है। सहज भाव यहाँ है ही नहीं। तुम कूट युद्ध से विजय पाना चाहते हो। मृग मरीचिका है यह। इस देश को वही बचायेगा जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगा, मैत्री पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा।"

अतीत में बासी होने का ख़तरा होता है। पेड़-पौधे, वनस्पतियाँ, धर्म, व्यवस्था, संस्कृतियाँ, हम, हमारे विचार और हमारी बनायी हुई चीज़ें—सब

धीरे-धीरे बासी पड़ती जाती हैं। बासी होना—होते जाना सत्ता की नियति है। मगर इस नियति को तोड़ना—तोड़ते जाना ही—शायद जीवन का पर्याय है। 'पुनर्नवा' के देवरात कहते हैं :

> "पुनर्नवा देवी, तुम नित्य नवीन होकर मानसपटल पर उदित होती हो। जानती नहीं, किस मर्मवेदना को जगा जाती हो, किस बासी घाव को नया कर जाती हो। देवरात स्वयं मुर्झा गया है, उसमें पुनर्नवा के स्वागत करने की क्षमता नहीं है।···पुनर्नवा बनकर नित्य आती रहो। तुम्हारा कष्ट किसी को हरा कर जाय तो क्या हर्ज है देवि ! नहीं, तुम नित्य नवीन होकर हृदय में उतरा करो। नित्य नवीन होकर, पुनः-पुनः नवीन होकर मेरी पुनर्नवा रानी !"[1]

पुनर्नवा अर्थात् पुनःनवीन, पुनःजाग्रत, पुनःप्राणवन्त होने की व्याप्त वेदना इस पूरे उपन्यास के सभी पात्रों को मथती रहती है। देवरात महाकाल के दरबार में पहुँचकर भी शान्ति नहीं पाते। वे स्थिति की खोज में हैं पर महाकाल केवल गति मात्र हैं, निरन्तर धावमात्र गति, एक क्षण के लिए भी न रुकनेवाला प्रचण्ड वेग।

> "जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, सड़ा-गला है, वह ध्वस्त होता जा रहा है, नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का तांडव दिखाई दे रहा है। काल की यह प्रचण्ड धारा रुक नहीं सकती, मृत्यु और जीवन की यह परस्पर सापेक्षिता दूर नहीं हो सकती।"[2]

यही समय प्रवाह का सत्य है। यही पुनर्नवता है। चन्द्रमौलि कहता है :

> "दो तरह की रचनाएँ होती हैं। एक प्रकार की रचनाएँ विधाता की सृष्टि हैं, दूसरी तरह की रचनाएँ मनुष्य की सृष्टि हैं। स्वयं मनुष्य पहली श्रेणी में आता है। मनुष्य और प्राकृतिक वस्तुओं, जीव-जन्तुओं, लता-पादपों की रचना एक ही कर्ता के द्वारा हुई है। इसीलिए हम इन प्राकृतिक वस्तुओं की निर्माण-विधि की आलोचना नहीं करते। वह जैसी बनी हैं, वैसी बनेंगी ही। हम उनसे सुख पा सकते हैं, दुख पा सकते है—पर वे हैं; हम यह कहने के अधिकारी नहीं हैं कि वे क्यों वैसी बनी हैं। हम स्वय भी उसी की सृष्टि हैं पर जो व्यवस्था मनुष्य ने बनाई है उसकी बात और है। उसमें दोष हो तो उसे बदला जा सकता है।"[3]

---

1. पुनर्नवा, पृ० 245-246
2. पुनर्नवा, पृ० 126-127
3. वही, पृ० 135

चन्द्रमौलि की यह बात देवरात को व्याकुल कर देती है। वे सोचने लगते हैं :

> "यह धर्म-कर्म, संयम-नियम क्या व्यर्थ के ढकोसले हैं? क्या विधाता की बनायी सृष्टि से भिन्न हैं?" क्या शास्त्रों में जो समाज-संतुलन की व्यवस्था है वह मनुष्य की बनायी है, विधाता के इंगित पर नहीं बनी है? क्या सारा अपौरुषेय समझा जाने वाला ज्ञान, विधि-विधान का अंग नहीं है? क्या मनुष्य के बनाये घर-द्वार और ईंट-पत्थर के समान वह भी आलोच्य और परिवर्तितव्य है? आचार्य पुरगोभिल कहते है, अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।...सामाजिक व्यवस्थाएँ ऐसी ब्रह्मरेख नही हैं जो मिट ही नहीं सकती। इसीलिए धर्म की रक्षा के लिए निरन्तर विचार करते रहने की आवश्यकता होती है।"[1]

चौथी शताब्दी की घटनाओं पर आधारित द्विवेदी जी का 'पुनर्नवा' उपन्यास युग की सीमा को तोड़कर आज के प्रश्नों को रेखांकित करता है और उनका एक विवेकसम्मत समाधान ढूँढ़ने की कोशिश करता है। धर्म और सामाजिक विधि-व्यवस्था के प्रति आज जो अवमानना की प्रवृत्ति बढ़ रही है, लोक-मानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़ मान्यताओं के प्रति आज जो भावलोक का विद्रोह दिखाई पड़ रहा है उसके प्रति द्विवेदी जी पूरी तरह सचेत हैं और उन्होंने उस भावलोक के विद्रोह की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए अपनी प्रगतिशील मानववादी दृष्टि का परिचय दिया है। आचार्य पुरगोभिल बदली हुई परिस्थितियों के साथ जोड़कर सामाजिक विधि-व्यवस्था का जो विश्लेषण करते हैं वह उपन्यासकार की अत्यन्त जागरूक दृष्टि का परिचय देता है।[2] मृत मान्यताओं, अप्रासंगिक व्यवस्थाओं तथा नीति-अनीति की सड़ी रूढ़ियों को तोड़कर जीवन की प्रवहमान धारा से उत्पन्न नये मूल्यों को स्वीकारने का साहसपूर्ण प्रयास इस उपन्यास में हुआ है। समाज-व्यवस्था, विधि-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था को परिस्थितियों, मानवीय आकांक्षाओं के अनुरूप ढालते जाना ही शायद पुनर्नवता है और इस पुनर्नवता के स्वागत का साहस ही द्विवेदी जी के इस उपन्यास का विशेष संदेश भी।

'अनामदास का पोथा' में द्विवेदी जी उपनिषद्कालीन समाज में आज के लिए प्रासंगिक मूल्य ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं। वे एकान्त तप के स्थान पर समाज-सेवा की प्रतिष्ठा करते हैं :

1. वही, पृ० 173, 175
2. वही, पृ० 172-175

> "एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है। देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुख-कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है?"

इसी प्रकार द्विवेदी जी पाप-पुण्य की व्याख्या भी नवीन संदर्भ में करते हैं :

> "हाँ बेटा, तूने ठीक प्रश्न किया है। बादरायण व्यास ने कहा है कि जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है, वह पाप कार्य है। पर जिससे किसी का दुख दूर हो, उसका इहलोक और परलोक सुधर जाये, रोगी निरोग हो जाय, दुखिया सुखी हो जाय, भूखा अन्न पाये, प्यासा जल पावे कमज़ोर लोग आश्वासन पावे वे सब पुण्य हैं; क्योंकि इनसे अंतःकरण में विराजमान परम-देवता प्रसन्न होते हैं।"

वस्तुतः द्विवेदी जी के उपन्यासों से प्राप्त होनेवाला यह संदेश ही सबसे महत्त्वपूर्ण और महान है।

4

शोध, आलोचना और इतिहास-दृष्टि

द्विवदी जी का आलोचक व्यक्तित्व अन्य आलोचकों की तुलना में इसलिए विशिष्ट हो जाता है कि उनमें एक ओर आचार्यत्व की गरिमा है तो दूसरी ओर गहरी सर्जनात्मक ऊर्जा। चिंतन और भावुकता का यह दुर्लभ संयोग बिरले लेखकों में दिखाई पड़ेगा। 28-3-1942 को बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम लिखे एक पत्र में द्विवेदी जी कहते हैं :

> "पंडित मैं बनना ज़रूर चाहता हूँ परन्तु ठूँठ पण्डित नहीं, जीवंत, सरस, गतिशील। आपका आशीर्वाद रहे तो इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में।"[1]

कहना न होगा, उपर्युक्त तीन शब्दों (जीवंत, सरस, गतिशील) में द्विवेदी जी ने अपने पांडित्य को पारिभाषित कर दिया है। उनका व्यक्तित्व मूलत: एक सर्जनात्मक व्यक्तित्व है। उनमें जो भाव प्रवणता और भावोच्छ्वास है और जो संभवत: रवीन्द्रनाथ से प्रभावित है उसके कारण कुछ लोग उन्हें शुद्ध आलोचक नहीं मानते। द्विवेदी जी की दृष्टि मुख्यत: शोधपरक तथा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है। इसलिए भी कुछ लोग उन्हें शुद्ध आलोचक नहीं स्वीकार करते। पर द्विवेदी जी की सर्जनात्मक चेतना, उनकी शोधवृत्ति और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टि उनकी आलोचना को क्षतिग्रस्त नहीं करती बल्कि उसे और भी अर्थवान तथा महत्त्वपूर्ण बनाती है। द्विवेदी जी में एक रचनात्मक संलग्नता है जिसके कारण वे किसी कवि का बड़ी तन्मयता और सहृदयता के साथ मूल्यांकन करते हैं। वे साहित्य को या किसी साहित्यकार को एक व्यापक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में रखकर, उस समय के धर्म और राजनीति और लोक जीवन के साथ रखकर, उसका विश्लेषण-मूल्यांकन करते हैं। उनकी दृष्टि शोधपरक है पर वे पुरानी पोथियों और शास्त्रों तक सीमित नहीं रहते, न उनकी व्याख्या मात्र करके रह जाते हैं। वे उस पुराने ज्ञान को आधुनिक दृष्टि से जोड़ते चलते हैं। द्विवेदी

---

1. पत्र : हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 57

जी अपनी शोधपरक दृष्टि से पाठक के ज्ञान-क्षितिज को विस्तृत करते हैं। अपनी इतिहास दृष्टि से उसे व्यापक आयाम देते हैं। वे जितनी गहराई से प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र, ज्योतिष, तंत्र, धर्म और दर्शन में घुसते हैं उतनी ही गहराई से पाश्चात्य विद्वानों के आधुनिक चिंतन में। उनका इतिहासकार, शोधकर्ता और समीक्षक रूप एक दूसरे में इस क़दर घुल-मिल गया है कि उसे एक-दूसरे से एकदम अलग करके देखना कठिन जान पड़ता है। द्विवेदी जी की ये विशेषताएँ उनकी आलोचना की सीमाएँ नहीं हैं बल्कि उसकी महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं।

द्विवेदी जी की साहित्य और आलोचना सम्बन्धी मान्यताएँ मुख्य रूप से उनके विचार प्रधान निबन्धों और 'लालित्य तत्त्व', 'साहित्य का मर्म' तथा 'साहित्य का साथी' जैसी कृतियों में व्यक्त हुई हैं। निबंधों की चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है और लालित्य चिंतन की चर्चा अगले अध्याय में होगी। यहाँ हम मुख्य रूप से 'साहित्य का मर्म' और 'साहित्य का साथी' की चर्चा करेंगे, जिनमें द्विवेदी जी के विशुद्ध आलोचनात्मक विचार प्रकट हुए हैं और जिनमें उनकी आलोचना दृष्टि स्पष्ट होती है। जैसा कि कहा जा चुका है, द्विवेदी जी की दृष्टि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक, मानवतावादी तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि है। वे संस्कृति की जीवन-धारा में साहित्य को जोड़कर देखते हैं। उनकी आलोचना के केन्द्र में मनुष्य है। उनके अनुसार :

> "साहित्य का मर्म वही समझ सकता है जो साधना और तपस्या का मूल्य समझ सके। मनुष्य रूपी पुरुष ही, अर्थात् पशु सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्वधर्मी जीव ही सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है। उससे बड़ा कुछ भी नहीं।"[1]

द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य वह है जो मानव-हृदय को उदात्त बनाता है। उसे पशुत्व से उठाकर देवत्व की ओर अग्रसर करता है। उसे सारे विश्व के साथ एकत्व की अनुभूति कराता है। उन्हीं के शब्दों में :

> "आहार, निद्रा, भय आदि मनोभाव समस्त प्राणियों में समान है। मनुष्य जब इनकी पूर्ति का प्रयत्न करता है तो वह अपने उस छोटे प्रयोजन में उलझा रहता है जो पशुओं के समान ही है। बहुत प्राचीन काल से इन पशु सामान्य प्रवृत्तियों को मनुष्य ने तिरस्कार के साथ देखा है। वह इन तुच्छताओं से ऊपर उठ सका है, यही उसकी विशेषता है। जो बातें हमें इन तुच्छताओं का दास बना देती हैं, या इन तुच्छताओं को ही मनुष्य का असली रूप बताती हैं, वे मनुष्य के चित्त से उसके महत्त्व को, उसके वैशिष्ट्य को और उसके वास्तविक

1. साहित्य का मर्म, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-7, पृ० 160

रूप को हटा देती हैं। वे लोभ और मोह का पाठ पढ़ाती हैं। साहित्य वे नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनकी शिक्षा से मनुष्य खण्ड की साधना करता है, विभेद और तुच्छता को बड़ा समझने लगता है और सारे विश्व के साथ एकत्व की अनुभूति से विरत हो जाता है।"[1]

द्विवेदी जी साहित्य में उस यथार्थ को पसन्द नहीं करते जो नग्नता का प्रदर्शन करके मनुष्य को कुंठित कर देता है। उनके अनुसार स्थानीय दृश्यों के ब्यौरेवार चित्रण, छोटी-बड़ी बातों का सिलसिलेवार निरूपण, विस्तारित वर्णन, बोलियों-गालियों आदि का प्रयोग—ये सब यथार्थवादी लेखन नहीं है। यह यथार्थवादी कौशल है। इससे लेखक अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता है। लेकिन यही लक्ष्य नहीं है। द्विवेदी जी के शब्दों में :

"लक्ष्य है मनुष्य-जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक ले जाने का संकल्प, मनुष्यों के दुखों को अनुभव करा सकनेवाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे दृढ़चेता आदर्श चरित्रों की सृष्टि जो दीर्घकाल तक मनुष्यता को मार्ग दिखाते रहें। जो साहित्यकार ऐसा नहीं कर पा रहा है उसमें कहीं न कहीं कोई त्रुटि है। बड़े साहित्य का रचयिता ही बड़ा साहित्यकार है। कभी-कभी उल्टे रास्ते सोचने का प्रयास किया जाता है। हमारी साहित्यिक आलोचना में हवाई बातों को छोड़कर ठोस रचनाओं को लेकर चर्चा चले तो अच्छा हो, व्यर्थ ही दलबन्दियों और आरोप-प्रत्यारोपों के वाग्जाल में कोई सार नहीं है।"[2]

द्विवेदी जी यह मानते है कि आज साहित्य में मनुष्य के सामूहिक कल्याण की दृष्टि प्रधान हो गई है पर यह दृष्टि हमारी पुरानी काव्यालोचन परम्परा में भी है और हमें उस पुरानी परम्परा को भुलाना नही चाहिए। उत्तम लेखक समाज की जटिलताओं की तह में जाता है। उन्हें चीरकर भीतर से देखने की कोशिश करता है। मगर उसका सबसे बड़ा लक्ष्य वही है जिसे द्विवेदी जी बार-बार दुहराते हैं अर्थात् मनुष्य को देवता बनाना। उन्ही के शब्दों मे :

"मनुष्य को उसकी स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, परदुख-कातर और संवेदनशील बनाना, और निखिल जगत के भीतर चिरस्तब्ध 'एक' की अनुभूति के द्वारा प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य का काम है। छन्द, अलंकार, पद-

---

1. साहित्य का साथी, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-7 पृ० 168
2. वही, पृ० 179

लालित्य और शैलियाँ इसी महान उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं।"[1]

द्विवेदी जी का यह दृष्टिकोण उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में सर्वत्र छाया हुआ है। उन्होंने सौंदर्य का मूल्यांकन भी इसी दृष्टि से किया है। वे सामाजिक वैषम्य का विरोध करते हैं। वे सामंजस्य को सौन्दर्य की आत्मा मानते हुए बाह्य जगत से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उन्हीं के शब्दों में :

> "···हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नही कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश और पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया सामंजस्य की नहीं कही जा सकती और इसीलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दरता के ढूह में खड़े होकर आंतरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती।"[2]

इसीलिए द्विवेदी जी साहित्य को मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के साथ जोडकर देखते हैं। उसे केवल कुछ ख़ास विषयों तक सीमित नही करना चाहते। उन्ही के शब्दों में :

> "आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड फेंकना चाहते हैं तो आप चाहे जो भी मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नही रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नहीं कर सकते और विज्ञान की नयी प्रवृत्तियों से अपरिचित रहकर कुछ भी नहीं कर सकते। साहित्य केवल बुद्धि-विलास नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा कर सजीव नहीं रह सकता।"[3]

द्विवेदी जी ने स्वयं अपनी आलोचना में इतिहास, धर्म, पुराण, पुरातत्त्व, नतत्त्व, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीति आदि शास्त्रों का भरपूर इस्तेमाल किया है।

समीक्षा में द्विवेदी जी अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण के लिए विख्यात है। वे इतिहास को भूतकालीन घटनाओं का संकलन न मानकर उसे "कालस्रोत मे बह आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा"[4] मानते हैं। काल की चतुर्दिक् सीमाओं के साथ समूह मानव का बहुमुखी संघर्ष ही इतिहास है। यह इतिहास मनुष्य द्वारा बनता है और मनुष्य को बनाता भी है। द्विवेदी जी इतिहास को मनुष्य के विकास

---

1. वही, पृ० 218
2. अशोक के फूल, पृ० 184
3. वही, पृ० 188
4. कल्पलता, पृ० 175

और उसके भविष्य के साथ रखकर देखते हैं। वह मनुष्य की जीवनधारा का प्रवाह है। उसके संघर्ष का नाम है। उसके नैरंतर्य की गाथा को ही वे शब्द देते हैं :

> "विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फेन बुद-बुद के समान काल-स्रोत में उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है, साम्राज्य और धर्मराज उठते हैं और गिर जाते हैं; परन्तु मनुष्य फिर भी बचा रह जाता है।"

द्विवेदी जी बार-बार 'महाकाल', 'महाअज्ञात' और 'इतिहास विधाता' की चर्चा किया करते हैं। 'इतिहास विधाता' में उनका गहरा विश्वास है। 'मनुष्य की जययात्रा' में उनकी अटूट निष्ठा है। वे इस बात की बार-बार चर्चा करते हैं कि किस प्रकार यह धरती सूर्यमण्डल से अलग हुई, किस प्रकार लाखों वर्ष तक ठण्डी होती रही, किस प्रकार उसमें जीवतत्त्व का उद्भव हुआ और किस प्रकार अवसर आने पर उसने समस्त जड़ शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया—तृणांकुर के रूप में। सृष्टि के इतिहास में यह अघटित घटना थी। मनुष्य उसी की अंतिम परिणति है। जब जीवतत्त्व समस्त विघ्न-बाधाओं को रौंदकर मनुष्य के रूप में अभिव्यक्त हुआ तो इतिहास ही बदल गया। मनुष्य ने प्रकृति को अपनी इच्छा के अनुसार बनाने और बदलने की कोशिश की। द्विवेदी जी के अनुसार समस्त गलतियों के बावजूद मनुष्य मनुष्यता की उच्चतर अभिव्यक्तियों की ओर बढ़ रहा है। वे मनुष्य की इस दुर्दम्य जिजीविषा को ही सबसे बड़ा सच मानते हैं। 'अशोक के फूल' शीर्षक निबन्ध मे वे लिखते हैं :

> "मुझे मानव जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हज़ारों वर्ष का रूप साफ़ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ हजम करने के बाद भी पवित्र है!"

मनुष्य की यह दुर्दम जिजीविषा ही इतिहास की प्राणशक्ति है। इसी से इतिहास बनता और मिटता है। इतिहास के प्रति अपनी इसी दृष्टि के कारण द्विवेदी जी इतिहास की सीमाओं मे क़ैद नही होते। वे जो कुछ दिखाई देता है उस गोचर सृष्टि के परे भी कुछ जिज्ञासाएँ रखते हैं। उनकी ये जिज्ञासाएँ उनकी अनेकानेक कृतियों में बार-बार तरंगायित होती रहती हैं। चाहे निबन्ध हो या

उपन्यास या उनका लालित्य-चिन्तन—सबमे इसे देखा जा सकता है। 'अनामदास का पोथा' में वे लिखते हैं :

> "यह जो सुन्दर रंग रूप है, मोहन आकर्षण है, अभिव्यक्ति है, यह सब किसी बड़े प्रेमी का अंगुलि-निर्देश है।"

इसी उपन्यास में वे लिखते हैं :

> "मुझे लगता है बेटा, जिसे लोग आत्मा कहते हैं वह इसी जिजीविषा के भीतर कुछ होना चाहिए।···आत्मा अज्ञात, अपरिवर्तित संभावनाओं का द्वार है। अगर सम्भावना नहीं होती तो जिजीविषा भी नहीं होती।"

इतिहास सम्बन्धी इसी दृष्टिकोण के आधार पर द्विवेदी जी साहित्य को एक अविच्छिन्न धारा के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में हिन्दी साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा का प्रतिपादन किया है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने हिन्दी साहित्य के विविध कालों का मूल्यांकन किया है। इसी प्रकार कबीर का मूल्यांकन करते समय वे विविध साधनाओं और उनके ऐतिहासिक विकास का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कवि के स्वभाव, व्यक्तित्व और विचारों पर उसकी वंश परम्परा, जातीय संस्कार और युगचेतना का प्रभाव लक्षित किया है।

द्विवेदी जी की प्रथम आलोचना कृति 'सूर साहित्य' 1930 के आसपास प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के निवेदन में द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है :

> "उस समय साहित्य क्षेत्र में कुछ नया देने की उमंग थी और ऐसा विश्वास था कि जो कुछ लिख रहा हूँ. सब प्रकार से नवीन और ग्राह्य है।"

इस प्रथम रचना में ही द्विवेदी जी ने काफ़ी नवीन सामग्री दी है। यह एक शोधपूर्ण कृति है। इसके आरम्भिक दो अध्याय—'राधा कृष्ण का विकास' तथा 'स्त्री-पूजा और उसका वैष्णव रूप' पर्याप्त नवीन सामग्री प्रस्तुत करते हैं। डा. जार्ज ग्रियर्सन ने सूरदास, नन्ददास, मीराबाई, तुलसीदास आदि भक्ति कवियों पर ईसाई प्रभाव की चर्चा की है। द्विवेदी जी इस पुस्तक में ईसाई भक्तों और भारतीय वैष्णव भक्तों की बुनियादी जीवन दृष्टि में अन्तर करते हुए बताते हैं कि ईसाई परिकल्पना मानव जीवन को आदिम पाप का दण्ड मानती है इसलिए इसमें ईश्वर के सान्निध्य के लिए अपने में पाप-बोध और दुःख-बोध को जाग्रत रखना आवश्यक है। द्विवेदी जी के ही शब्दों में :

> "साधना के एक सिरे पर है यह दुःख, पाप, अपूर्णता और दूसरे सिरे पर है उपनिषदों का आनन्द, अमृत तथा पूर्णता। 'आनन्दादेव भूतानि जायन्ते', 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'। पहला है मध्ययुग के ईसाई

मर्मभाव का उत्स और दूसरा वैष्णव भक्त कवि का उद्गम स्थान। दोनों के मूल में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक का रास्ता है 'दुख', दूसरे का 'लीला'; एक के प्रेम का कारण है पाप-बोध, दूसरे का आनन्दकेलि; एक का लक्ष्य है स्वर्ग और मर्त्य के व्यवधान को भर देना, और दूसरे का ब्रह्माण्ड में व्याप्त, अव्यवहित, पूर्ण, एकरस ब्रह्म को उसकी लीला की संकीर्णता में उपलब्ध करना। दोनों एकदम अलग चीज़ है।"[1]

द्विवेदी जी के अनुसार वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोकधर्म अधिक है। हिन्दी साहित्य के लोकगीतों में इसका प्रवेश वल्लभाचार्य के बहुत पहले हो गया था। इन्हीं गीतों का विकसित और सुसंस्कृत रूप सूरसागर में विद्यमान है।[2] द्विवेदी जी ने जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की राधा के साथ सूरदास की राधा को रखकर प्रेमतत्त्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए बताया है कि भारतवर्ष के किसी कवि ने राधा का वर्णन ऐसी पूर्णता के साथ नहीं किया है। विश्वसाहित्य में 'सूर की राधा' जैसी प्रेमिका नहीं है। द्विवेदी जी के ही शब्दों में :

> "सूरसागर के दो चित्र संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं—यशोदा और राधिका। यशोधा के वात्सल्य में वह सब कुछ है जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाए हुए है। राधिका के चित्र में 'प्रेम' का अथ से इति तक सर्वस्व निहित है।"[3]

सूरदास के बाद हिन्दी के दूसरे कवि जिस पर द्विवेदी जी ने स्वतन्त्र पुस्तक लिखी, वह हैं कबीर। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम लिखे अपने 16-12-47 के पत्र में द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है कि कबीर साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा उन्हें स्व. गुरुदेव और आचार्य क्षितिमोहन सेन से मिली थी।[4] द्विवेदी जी ने इस प्रेरणा को ऐसा रूप दिया जो साहित्य के विद्यार्थी के लिए खुद एक प्रेरणा स्रोत बन गया। कबीर के मूल्यांकन में उन्होंने कविता के नये प्रतिमानों की स्थापना की जो आज भी चल रहे हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, द्विवेदी जी के विचार आधुनिक मानववादी, पाखण्ड विरोधी विचार थे। कबीर ने भी जाति-पाँति, पाखण्ड, धार्मिक आडम्बर, बाह्याचार आदि का तीखा विरोध किया था। कबीर द्विवेदी जी के आदर्श बन गये। वैसे ही जैसे तुलसी आचार्य शुक्ल के। इसीलिए कबीर की आलोचना में द्विवेदी जी का मन सबसे ज्यादा रमा और वह उनकी अप्रतिम आलोचना कृति बन गई।

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-4, पृ० 62
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-4, पृ० 81
3. वही, पृ० 100
4. पत्र : हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० मुकुन्द द्विवेदी, पृ० 80

द्विवेदी जी पहले आलोचक हैं जिन्होंने कबीर जैसे कवि को हिन्दी साहित्य मे प्रतिष्ठित किया। उनके पूर्व आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में कबीर पर लिखा जरूर था, पर बहुत संक्षेप में। वहाँ कबीर के व्यक्तित्व को बहुत उभारा नहीं गया था।

द्विवेदी जी ने पहली बार कबीर के व्यक्तित्व को, उनके कवित्व को, उनकी भाषा को और उनकी व्यंग्य क्षमता को रेखांकित करते हुए उन्हें हिन्दी साहित्य में ऐसा प्रतिष्ठित किया कि वे आज भी नए-से-नए कवि के आदर्श बने हुए हैं। कबीर के क्रांतिकारी रूप को सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही पहचाना, यह कबीर सम्बन्धी आलोचना को उनकी देन है। कबीर को प्रतिष्ठित करते हुए वे कविता की कुछ ऐसी विशेषताओं को रेखांकित कर गए जो आगे चलकर कविता के नए प्रतिमानों के रूप में विकसित हुईं। हमारे आज के नए रचनाकारों ने विद्रोह, क्रांति, जनवाद और काव्यभाषा के जो मान विकसित किए हैं उनमें द्विवेदी जी का बहुत बड़ा योगदान है। यह भी द्विवेदी जी की कबीर सम्बन्धी आलोचना की उपलब्धि है। कबीर-काव्य की विशेषताओं की ओर पहले भी विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया था पर द्विवेदी जी ने जिस सहानुभूति के साथ कबीर को प्रस्तुत किया उस तरह पहले किसी ने नहीं किया था। शोध, ऐतिहासिक दृष्टि और सहृदय समीक्षा का दुर्लभ संयोग द्विवेदी जी के कबीर सम्बन्धी अध्ययन में दिखाई पड़ता है। इस पुस्तक के 'उपसंहार' में वे कबीर सम्बन्धी अपना जो निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं उसे संक्षेप मे उन्हीं के शब्दों में पढ़ना उपयुक्त होगा। वे लिखते हैं:

> "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया—बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर।···फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने मे भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नही जानते। पण्डित और क़ाजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते है। अत्यन्त सीधी भाषा मे वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूड़ झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नही की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी मे भी कम रस इकट्ठा नही हुआ है।
>
> हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास म कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल

> एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है : तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-झटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में सन्तोष पाता है।···
>
> कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाए तो) समाज सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज सुधारक समझना गलत है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पाई जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहेतुक प्रेम और मनुष्य मात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना।···
>
> कबीरदास का यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं।···प्रेम भक्ति को कबीरदास की वाणियों में केंद्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमण्डी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे है।···भक्तितत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें बाह्याचार के जंजालों को साफ़ करने की ज़रूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतनतत्त्व की उपलब्धि में बाधक है। यह बात ही समाज सुधार और सांप्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह भी फोकट का माल या 'बाईप्रोडक्ट' ही है।"

सूरदास और कबीरदास—हिन्दी के इन दो कवियों पर जिस प्रकार द्विवेदी जी ने अलग-अलग ग्रंथ लिखे है उसी प्रकार संस्कृत के कवि कालिदास और बाङ्ला के कवि रवीन्द्रनाथ पर भी। कालिदास और रवीन्द्रनाथ उनकी प्रेरणा के स्रोत

थे। 'कालिदास की लालित्य योजना' नामक पुस्तक में द्विवेदी जी ने कालिदास का नया मूल्यांकन किया है। यह मूल्यांकन द्विवेदी जी के 'कृती' और 'तत्त्वान्वेषी' दोनों रूपों को सामने लाता है। कालिदास के काव्य-संसार में जिस 'कृती' पाठक के रूप में द्विवेदी जी प्रवेश करते हैं, जिस तन्मयता के साथ उसका आस्वाद करते हैं और जिस तत्त्वान्वेषी चिन्तक की तरह कालिदास की लालित्य योजना का विश्लेषण करते हैं वह किसी सामान्य पण्डित के लिए सम्भव नहीं था। द्विवेदी जी आधुनिक पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र और प्राचीन भारतीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परम्परा दोनों का सहारा लेते हुए कालिदास की कलाविषयक मान्यताओं का अध्ययन करते हैं। उनके अध्ययन मे जितना पांडित्य है उतनी ही सर्जनात्मक प्रतिभा। कालिदास द्विवेदी जी के लिए एक सामान्य कवि नहीं हैं, भारत की अन्तरात्मा और भारतीय मनीषा को वाणी देने वाले राष्ट्रीय कवि हैं। उनके बारे में वे लिखते हैं :

> "भारतीय धर्म, दर्शन, शिल्प और साधना में जो कुछ उदात्त है, जो कुछ दृप्त है, जो कुछ महनीय है और जो कुछ ललित और मोहन है उनका प्रयत्नपूर्वक सजाया-सँवारा रूप कालिदास का काव्य है।··· सुकुमारता के साथ सुशीलता का, मानसिक मृदुता के साथ चारित्रिक दृढ़ता का, अपार वैभव के साथ विपुल वैराग्य का—सौन्दर्य के साथ धर्म का—ऐसा मणिकांचन योग संसार के साहित्य में विरल है।"[1]

द्विवेदी जी ने कालिदास के 'मेघदूत' की एक टीका भी लिखी है, जिसका नाम दिया है उन्होंने 'मेघदूत : एक पुरानी कहानी'। अपने उपन्यासों की तरह इसे भी वे 'गप्प' की संज्ञा देते हैं। दरअसल यह कोई टीका नहीं है बल्कि हजारीप्रसाद द्विवेदी का लिखा एक अलग 'मेघदूत' है। इसको पढ़ते हुए एक पुनर्रचना का आनन्द मिलता है। द्विवेदीजी आधार तो मूल श्लोकों का ही लेते हैं पर उसमें ऐसी ऐसी चीजें जोड़ते चलते हैं कि वह मूल से भी अधिक मनोरम, उनका अपना मेघदूत जान पड़ता है। मूल श्लोक तो उनके लिए केवल एक खूँटे का काम करता है। उसके सहारे वे इतनी लम्बी उड़ान भरते हैं कि पाठक भी लोक-लोकांतर की यात्रा का आनन्द लेने लगता है। उदाहरण के लिए 'मेघदूत' के पहले ही श्लोक की द्विवेदी जी द्वारा की गई व्याख्या का केवल एक अंश देखना पर्याप्त होगा :

> "प्रेमजन्य प्रमाद इतिहास मे और भी हुए हैं। यक्ष ने जो गफ़लत की, वैसी ही और भी कई बार की गई। कहते हैं, खानखाना अब्दुर्रहीम का एक साधारण भृत्य प्रिया-प्रेम में कर्त्तव्यबुद्धि से इतना हीन हो गया कि छह महीने तक काम पर ही न गया। गया तो डरता हुआ

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-8, पृ० 125

> और जीवन की सबसे कठिन सज़ा सुनने की आशंका लिए हुए। उसकी प्रिया कविता लिख लेती थी। उसने पुरजे पर एक बरवै छन्द लिख दिया था। इस पर कवि रहीम ने भृत्य का अपराध क्षमा कर दिया था और पुरस्कार भी दिया था। वे मनुष्य थे, पर कुबेर तो देवता थे। मनुष्य क्षमा कर सकता है, देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदय से लाचार है, देवता नियम का कठोर प्रवर्त्तयिता है। मनुष्य नियम से विचलित हो जाता है, पर देवता की कुटिल भृकुटि नियम की निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह ग़लती कर सकता है, देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियन्ता है। सो कुबेर ने उसे शाप दे दिया।"

'कालिदास की लालित्य योजना' में उन्होंने 'तत्त्वान्वेषी' और 'कृती' पाठक के अन्तर की ओर संकेत किया है। द्विवेदी जी तत्त्वान्वेषी तो हैं पर मूलतः एक 'कृती' पाठक हैं। कुछ भी लिखते-पढ़ते उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा इतनी सक्रिय होती है कि वह सब कुछ पर छा जाती है। वे सच्चे अर्थों में एक 'रचनाकार आलोचक' हैं। 'मेघदूत' उनकी दृष्टि में एक अद्भुत काव्य है। यह मनुष्य की चिर-नवीन विरह-वेदना और मिलनाकांक्षा का सर्वोत्तम काव्य है। इस काव्य की बहुत-सी व्याख्याएँ हुई हैं, बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई हैं पर द्विवेदी जी की टीका अपनी सर्जनात्मकता में कालिदास के मेघदूत की तरह ही सर्वोत्तम है।

'मृत्युंजय रवीन्द्र' रवीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में लिखे गए द्विवेदी जी के लेखों का संग्रह है। कुछ लेख विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे गए थे तो कुछ विभिन्न साहित्यिक आयोजनों में भाषण के रूप में पढ़े गए थे। इन लेखों में कुछ तो महाकवि के व्यक्तित्व के बारे में संस्मरणात्मक हैं और कुछ उनके विचारों और रचनाओं पर प्रकाश डालते हैं। रवीन्द्रनाथ पर लिखने के लिए द्विवेदी एक अधिकारी व्यक्ति थे। उनके जीवन के लगभग बीस वर्ष शांतिनिकेतन में बीते थे, जिनमें बारह वर्ष तो उन्हें स्वयं गुरुदेव के निकट सम्पर्क में रहने का सौभाग्य मिला था। इस समय को द्विवेदी जी अपने जीवन का स्वर्णिम युग मानते हैं। 'मृत्युंजय रवीन्द्र' में द्विवेदी जी ने रवीन्द्रनाथ के सहज, संयमित, प्रेरणादायक व्यक्तित्व का और उनके काव्य, दर्शन तथा उनकी विचारधारा का गम्भीर, विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। भारतीय साहित्य को उनकी देन के बारे में द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "रवीन्द्रनाथ का भारतीय साहित्य को सबसे बड़ा दान यही है कि उन्होंने इसकी स्वकीयता को उकसाया और बल दिया। उन्होंने देश के साहित्यकारों को दृष्टि दी है। उन्होंने लोभ और मोह से अभिभूत आधुनिक सभ्यता की कमज़ोरियों का ठीक-ठीक स्वरूप समझाया है।

> ···रवीन्द्रनाथ ने अपने साहित्य के द्वारा भारतवर्ष की प्राणशक्ति को स्पंदित किया। उसे स्वयं को पहचानने की दृष्टि दी। उन्होंने उपनिषदों से, बौद्ध साहित्य से, मध्यकालीन साहित्य से और समूचे देश के कोने-कोने से उन वस्तुओं का संग्रह किया जो भारतीय गरिमा को उज्ज्वल वेश में उपस्थित कर सकी थी।···जो हमारा महान है, जीवन्त है, प्राणवन्त है उसे ही उन्होंने बहुमान दिया है और इस प्रकार भारतीय मनीषा के उज्ज्वल महिमान्वित रूप को प्रकट किया।···हमारे देश की महनीय आध्यात्मिक सम्पत्ति की ओर उन्होंने देश के कलाकारों को उन्मुख किया।"[1]

'नाथ सम्प्रदाय' द्विवेदी जी का शोधपरक ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने नाथ संप्रदाय के सिद्धों का परिचय देते हुए गोरक्षनाथ के सिद्धांत और उनकी साधना का विस्तार में विवेचन किया है। द्विवेदी जी के अनुसार भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में नाथ सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान रहा है। यह आंदोलन भक्तिकाल के पूर्व एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आंदोलन था और उसके बाद भी काफ़ी शक्तिशाली रहा है। इस सम्प्रदाय के अध्ययन से आधुनिक भारतीय भाषाओं की प्रेरक शक्तियों का पता चलता है। द्विवेदी जी ने गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती, उनके समसामयिक और उनके परवर्ती सिद्धों की मान्यताओं का परिचय देते हुए गोरक्षनाथ के विशिष्ट महत्त्व को रेखांकित किया है। पुस्तक के 'उपसंहार' में वे लिखते हैं :

> "गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान धर्म नेता थे। उनकी संगठन शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ-धर्मगुरु का व्यक्तित्व था।···जिन दिनों उन्होंने जन्म ग्रहण किया था, उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्त्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे गोरक्षनाथ ने नयी प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखाई। वे स्वयं पंडित व्यक्ति थे, पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं, साधन है। उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं; परन्तु फिर भी उन्होंने

1. वही, पृ० 439

> समस्त प्रचलित साधना-मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कहीं से न ले सके। वह है भक्ति।"[1]

'सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण' (1979 ई०) जो द्विवेदी जी की अन्तिम पुस्तक है, और जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हो पाई, सिक्ख गुरुओं के धार्मिक साहित्यिक अवदान को विषय बनाकर लिखी गई है। इस पुस्तक में द्विवेदी जी ने गुरु नानकदेव और गुरु गोविन्द सिंह पर अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित करते हुए उनकी वाणियों का महत्त्व प्रतिपादित किया है। द्विवेदी जी के अनुसार :

> "जिस समय गुरु नानकदेव का आविर्भाव हुआ था, वह समय भारतीय आध्यात्मिक जीवन के लिए अंधकार का समय था। एक ओर हिन्दू-समाज विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों मे विभक्त था, अनेकानेक रूढ़ियों से ग्रस्त था और दूसरी ओर बाहर से आए हुए शक्तिशाली इस्लाम का आक्रमण हर क्षेत्र में चुनौती दे रहा था। ऐसे समय में गुरु नानकदेव ने मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करने का आह्वान किया। उन्होंने सत्य को ही एकमात्र लक्ष्य माना और विचार तथा व्यवहार की एकता का उपदेश दिया।"

गुरु नानकदेव के बाद जो नौ गुरु हुए, उनका संक्षिप्त परिचय देते हुए द्विवेदी जी गुरु गोविन्द सिंह के जीवन-दर्शन को विस्तार के साथ स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार गुरु गोविन्द सिंह में :

> "कवि की संवेदना, सहृदय की ग्रहणशीलता, वीर का उत्साह और सन्त की अनाविल दृष्टि का अद्भुत मेल है। उन्होंने कविताएँ वाग्विलास के लिए नहीं उपेक्षितों और अवमानितों में आत्मविश्वास जगाने के लिए लिखीं। उन्होंने साम्राज्य स्थापन के लिए नहीं, अन्याय और अत्याचार के विरोध के लिए शस्त्र उठाया।"

उनकी काव्यकृति 'दशमग्रन्थ' पर विस्तार से विचार करते हुए द्विवेदी जी उसे जितना 'काव्य' मानते हैं उतना ही 'धर्मग्रन्थ'। वे उनके कवि हृदय को उनकी अपूर्व सफलता का महत्त्वपूर्ण रहस्य मानते हैं।

आदिकाल और मध्यकाल द्विवेदी जी के अध्ययन के प्रिय क्षेत्र हैं। उनकी अनेक पुस्तकें और अनेकानेक निबन्ध इसी क्षेत्र को मुख्य विषय बनाकर लिखे गये हैं। उन्होंने प्राचीन और मध्यकाल के धुँधलके को जितना आलोकित किया है उतना शायद ही हिन्दी के किसी आलोचक ने किया हो। उन्होंने प्राचीन साहित्य, इतिहास, पुराण, दर्शन, ज्योतिष, काव्यशास्त्र आदि का गंभीर अध्ययन किया था। इतिहास के इस अंधकार युग के गर्भ से ही हमारा आधुनिक युग पैदा हुआ है, अतः द्विवेदी जी उसे समझने की कोशिश को बहुत महत्त्व देते हैं।

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-6, पृ० 210-211

'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' पंजाब विश्वविद्यालय में दिये गये द्विवेदी जी के पाँच व्याख्यानों का संग्रह है। द्विवेदी जी के अनुसार आठवीं शताब्दी से भारतीय साहित्य के स्वतंत्र चिंतन का ह्रास शुरू हो गया था। इस काल का अन्तिम सीमान्त उनकी दृष्टि मे अठारहवी शताब्दी है। यहाँ से भारतीय साहित्य का टीका युग शुरू होता है। द्विवेदी जी के अनुसार यही मध्ययुग या मध्यकाल है। इस मध्यकालीन बोध के स्वरूप को उन्होंने बड़ी विद्वत्ता के साथ स्पष्ट किया है। अपने इन व्याखयानों मे उन्होंने उस साहित्य को महत्त्व देकर सामने लाने की कोशिश की है जो इस युग के लोगों के लिए आदर्श रहा। मध्यकाल की पहचान के लिए मध्यकालीन धर्म साधनाओं को समझना और समझाना उन्हें ज़रूरी प्रतीत हुआ। अपने 'मध्यकालीन धर्म साधना' नामक ग्रंथ में वे यह महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। यह पुस्तक इस विषय से संबद्ध विभिन्न अवसरों पर लिखे गये उनके निबन्धों का सग्रह है। इन निबन्धों में उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के साधना-विषयक और सिद्धांत विषयक ग्रंथों तथा उनसे सम्बद्ध काव्यग्रंथों से पर्याप्त सामग्री एकत्रित कर विभिन्न धर्म साधनाओं का परिचय दिया है। उत्तर भारत की मुख्य धर्म-साधनाओं और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि का जो विश्लेषण इन निबन्धों में प्राप्त होता है वह द्विवेदी जी की शोधपूर्ण ऐतिहासिक दृष्टि का भी परिचय देता है। भारत का मध्यकाल विभिन्न प्रकार के धर्मों और सम्प्रदायों का काल है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने लिखा है :

> "इस युग का साहित्य केवल साहित्य नही है बल्कि लोक में बद्धमूल साधना-पद्धति का प्रतिफलन भी है। उसका यह दूसरा पहलू ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

द्विवेदी जी अपने इन निबंधों मे इस दूसरे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू को स्पष्ट करते है। 'तन्त्र प्रमाण और पंचदेवोपासना', 'पांचरात्र और वैष्णव मत', 'पाशुपत मत और शैवागम', 'कापालिक मत', 'जैनमरमी', 'योग-साधना की परम्परा', 'सहज और नाथसिद्ध', 'धर्म और निरजन मत' आदि विभिन्न शीर्षकों से स्पष्ट है कि इस पुस्तक मे मध्ययुग की धर्मसाधनाओं पर गंभीर विचार किया गया है। अनेक वैदिक-अवैदिक, भारतीय-अभारतीय, आस्तिक-नास्तिक साधनाओं की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी न केवल उनके शास्त्रीय रूप का परिचय देते हैं बल्कि जनपदों मे प्रचलित लोकधर्म की अनेक पूजा-पद्धतियों, देवता-मण्डलियों और धार्मिक विश्वासों की दीर्घकाल से चलती आ रही परम्परा की ओर भी संकेत करते हैं।

'सहज-साधना' द्विवेदी जी के उन चार व्याख्यानों का संकलन है, जो उनके द्वारा मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद के आयोजन में नागपुर मे दिये गये थे। इन व्याख्यानो के शीर्षक हैं—क्रमशः 'साधनाकेन्द्र', 'शब्द साधना', 'सुरति और

निरति' तथा 'मधुरोपासना'। वैसे तो इन सभी व्याख्यानों का केन्द्रीय विषय सहज साधना है पर प्रसगवश द्विवेदी जी ने इनमें कुछ अन्य साधना-पद्धतियों की भी चर्चा कर दी है। द्विवेदी जी की अपनी विशिष्ट शैली में यह चर्चा इतनी रोचक हो जाती है कि अत्यन्त गूढ़ और शुष्क विषय भी पाठक के लिए सहज और सरस हो जाता है। इस पुस्तक के आखिरी निबन्ध के अन्त में द्विवेदी जी ने एक महत्त्वपूर्ण सवाल उठाया है कि आज के समूह मानव की समस्याओं को सुलझाने में इन साधनाओं की क्या प्रासंगिकता है ? आज के जड़ विज्ञान का इस तत्त्ववाद से क्या कोई सामंजस्य है ? उत्तर देते हुए द्विवेदी जी कहते हैं :

> "एक ही विश्वब्रह्माण्ड-व्याप्त मूल चित्शक्ति समस्त प्राणिजगत में व्याप्त है। मनुष्य के रूप में इसी का सर्वोत्तम विकास हुआ है। जो कुछ उस चित् शक्ति के अनुकूल है, वह ग्राह्य है और जो कुछ उसके प्रतिकूल है, वह अग्राह्य है, अनाचरणीय है। मध्ययुग के सन्तों ने जटिल साधना विधान को सहज बनाते समय उस मूल तत्त्व को ध्यान में रखा था।"

द्विवेदी जी के अनुसार :

> "सन्तों और भक्तों की वाणी का आज भी उपयोग है। वह मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जड़ोन्मुखी यांत्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है।"

इस अध्याय के प्रारंभ मे द्विवेदी जी की जिस इतिहास दृष्टि की चर्चा हुई है उसके समर्थ उदाहरण के रूप में उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' और 'हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास' नामक आलोचना पुस्तकें पढ़ी जा सकती हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' द्विवेदी जी की पुस्तक रूप में प्रकाशित दूसरी आलोचना कृति है (इसके पूर्व उनका 'सूर साहित्य' प्रकाशित हुआ था)। इस पुस्तक मे द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को एक विशाल परम्परा के अग के रूप में देखा है। उसे सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके नही देखा है। इसीलिए इसमें बार-बार सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आयी है तथा इसके परिशिष्ट में उन्होंने वैदिक तथा बौद्ध और जैन साहित्य का भी परिचय दे दिया है। 'अशोक के फूल' मे संकलित 'हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री' शीर्षक लेख में द्विवेदी जी ने लिखा था :

> "मेरा अनुमान है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के पहले निम्नलिखित साहित्यों की जाँच कर लेना बड़ा उपयोगी होगा, जिनकी अच्छी जानकारी के बिना हम न तो भक्तिकाल के साहित्य

> को समझ सकेंगे और न वीरगाथा या रीतिकाल को—1. जैन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य 2. कश्मीर के शैवों और दक्षिण तथा पूर्व के तांत्रिकों का साहित्य 3. उत्तर और उत्तर-पश्चिम के नाथों का साहित्य 4. वैष्णव आगम 5. पुराण 6. निबन्ध ग्रंथ 7. पूर्व के प्रच्छन्न बौद्ध-वैष्णवों का साहित्य 8. विविध लौकिक कथाओं का साहित्य।"

कहना न होगा, अपने इतिहास लेखन में द्विवेदी जी ने इन सभी साहित्यों की सामग्री का उपयोग किया है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने हिन्दी साहित्य को भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के भक्तिकाल के बारे में कहा था कि देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने के बाद हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, और उत्साह नहीं रह गया था। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं था। शुक्ल जी के इस मत का जोरदार खण्डन करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "दुर्भाग्यवश, हिन्दी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध हिन्दू-जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं—एक यह कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान-पतन के साथ अंगांगि-भाव से सम्बद्ध है; और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक है, जो अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूँ।···ऐसा करके मैं इसलाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[1]

द्विवेदी जी जितना ही जोर देकर यह बात कहते हैं उतने ही जोर से अपनी बात के समर्थन में तर्क पेश करते हैं। वे ईसा की पहली शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक की सांस्कृतिक परिस्थितियों का गहन विश्लेषण करते हैं और सिद्ध करते हैं कि सन ई० के हजार वर्ष बाद यहाँ के सभी सम्प्रदाय, शास्त्र और मत धीरे-धीरे लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गये जिसकी स्वाभाविक परिणति का

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-3, पृ० 33-34

मूर्त प्रतीक हिन्दी-साहित्य है। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं :

> "भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र मे स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था; यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी।"[1]

इस प्रकार द्विवेदी जी साहित्य के इतिहास को लोक-चेतना के इतिहास के रूप में विश्लेषित करते हैं जो भारतीय चिंताधारा का स्वाभाविक विकास है। द्विवेदी जी की यह इतिहास दृष्टि पूर्ववर्ती इतिहासकारों से भिन्न है। वे इसी दृष्टि से हिन्दी काव्य की अनेक धाराओं के उद्भव के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करते हैं। पूर्ववर्ती विद्वानों की मान्यताओं के अनुसार आदिकाल और भक्तिकाल की विभिन्न काव्यधाराएँ इस्लाम के प्रभाव से विकसित हुईं। द्विवेदी जी इन मान्यताओं का खण्डन करते हैं। वे बताते हैं कि मुसलमानों के आगमन से पहले भी अपभ्रंश और लोकभाषाओं को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। वे सन्तों को विशुद्ध ज्ञानमार्गी न मानकर प्रेममार्गी भी स्वीकार करते हैं। वे सूफ़ियों के प्रबन्ध काव्यों की प्रतिपादन शैली और उनकी कथानक-रूढ़ियों की छानबीन करते हुए उनके प्रेमाख्यानों को भारतीय साहित्य की परम्परा से जोड़ते हैं। वे कृष्णभक्ति के मूलस्रोतों को ढूँढ़ते हुए तांत्रिक साधनाओं तक पहुँचते हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य के आदिकाल और भक्तिकाल के लिए एक ऐसे विद्वान इतिहासकार के रूप में हमारे सामने आते हैं जो अपनी प्राचीन साधना-परम्पराओं से पूरी तरह परिचित है और इतिहास को उसकी निरन्तरता में देखते हुए अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों को प्रबल तर्कों के बल पर चुनौती देने में समर्थ।

'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' द्विवेदी जी के पाँच व्याख्यानों का संग्रह है जो बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद के तत्त्वावधान में दिये गये थे। द्विवेदी जी का यह ग्रंथ शोधप्रधान है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल, जो एक प्रकार से हिन्दी का अन्धकार युग था, उस पर सबसे पहले प्रामाणिक रोशनी डालने का काम द्विवेदी जी ने ही किया। इस युग पर अब तक जो रोशनी पड़ी थी, वह अपर्याप्त थी। द्विवेदी जी इसे महसूस करते हैं :

> "खेद की बात है उस दृष्टि की प्रतिष्ठा, जो शुष्क घटनाओं और तिथियों को ही इतिहास समझती है, उसी का यह परिणाम हुआ है

---

1. वही, पृ० 44

> कि देश की अन्य महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ उपेक्षित रह गयी हैं। यदि इतिहास का अर्थ मनुष्य-जीवन के अखण्ड प्रवाह का अध्ययन हो तो हिन्दी साहित्य के आदिकाल का इतिहास एकदम उपेक्षणीय नहीं है, पर दुर्भाग्यवश वह सचमुच ही उपेक्षित रह गया है।"

द्विवेदी जी ने इस उपेक्षित काल के बहुत से प्रश्नों को सुलझाया है। उन्होंने हिन्दी के अनेक काव्य-रूपों का सूत्र प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यरूपों में ढूँढ़ते हुए मध्यकालीन हिन्दी काव्य रूपों का सम्बन्ध उनसे जोड़ दिया है। इतना ही नहीं, हिन्दी साहित्य के साथ विभिन्न प्रान्तों के साहित्य का सम्बन्ध जोड़ते हुए उनके काव्यरूपों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। यह एक सर्वथा नवीन अध्ययन है।

'हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास' द्विवेदी जी का एक ऐसा इतिहास ग्रंथ है जिसमें आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रगतिवाद तक की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। वस्तुतः यह पुस्तक विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी थी। प्रयत्न किया गया था कि यथासंभव सुबोध भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके महत्त्वपूर्ण वाह्य रूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे दिया जाय। इस पुस्तक में द्विवेदी जी का साहित्य सम्बन्धी अब तक का अध्ययन और निष्कर्ष संक्षेप में दिखाई पड़ेगा और साथ ही उनकी इतिहास-दृष्टि का प्रकाश भी। द्विवेदी जी की मान्यताओं और उनकी इतिहास दृष्टि के बारे में पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है। अतः इस पुस्तक के बारे में यहाँ अलग से लिखने की विशेष जरूरत नहीं। इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के बारे में भी द्विवेदी जी के विचार प्रकट हुए हैं जो प्रवृत्तियों या कवियों-लेखकों के बारे में संक्षिप्त टिप्पणियों के रूप में होती हुई भी महत्त्वपूर्ण हैं। द्विवेदी जी ने अपनी उदार मानववादी दृष्टि से ही हिन्दी के आधुनिक काल को भी देखने और जाँचने की कोशिश की है। वस्तुतः यही द्विवेदी की बुनियादी दृष्टि रही है जिससे वे सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। इस मूल्यांकन में उनकी शोध दृष्टि और इतिहास दृष्टि निरन्तर जाग्रत रहती है। हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल के मूल्यांकन में द्विवेदी जी का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है जिसे आगे आनेवाले हर आलोचक को स्वीकार करके आगे बढ़ना होगा।

5

विचार-दर्शन और लालित्य-चिन्तन

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी कहती है, "इस नरलोक से लेकर किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।"[1] कहा जा सकता है कि पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी की सर्जनात्मक प्रतिभा का अकुण्ठ विलास इसी रागात्मक हृदय का साक्षात्कार है। उनके समूचे कृतित्व में यही और एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। संवेदनशीलता द्विवेदी जी के लेखकीय व्यक्तित्व की आत्मा है—यह वह अन्तःसरिता है जो उनके सम्पूर्ण कृतित्व में प्रवाहित होती रहती है। इसीलिए उनका लेखन पाठक में समवेदना का संचार करता है। उसमें पाठक को संवेदनशील और कोमल बनाने की शक्ति है। साहित्य का इससे बड़ा दूसरा कोई लक्ष्य नहीं है कि वह मनुष्य की जमी हुई अन्तःसरिता को प्रवहमान कर सके, मनुष्य की क्रूर वृत्तियों को तरल बना सके। द्विवेदी जी लिखते है :

> "जो साहित्यकार अपने जीवन में मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण नहीं है और जीवन के विभिन्न स्तरों को स्नेहार्द्र दृष्टि से नहीं देख सका है वह बड़े साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता।"[2]

द्विवेदी जी के इस कथन में 'मानव सहानुभूति' तथा 'स्नेहार्द्र दृष्टि' जैसे प्रयोगों पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि यही उनके लेखन के स्रोत हैं। इस 'मानव सहानुभूति' और 'स्नेहार्द्र दृष्टि' के ही कारण द्विवेदी जी के लेखन में कहीं-कहीं अतिरिक्त भाव प्रवणता और अतिरिक्त उच्छ्वास भी दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं तो उनका लेखन 'लिरिकल' हो गया है। इसीलिए कुछ विद्वान द्विवेदी जी को शुद्ध आलोचक नहीं मानते। द्विवेदी जी शुद्ध आलोचक हैं या नहीं, यह तो विवाद का विषय है पर मेरी दृष्टि से उनका व्यक्तित्व मूलतः सर्जनात्मक व्यक्तित्व है और वे एक रचनाकार आलोचक भी हैं। एक रचनाकार जब आलोचक होता है तो 'सूर साहित्य' और 'कबीर' जैसी कृतियाँ लिखी जाती हैं।

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० 271
2. साहित्य-सहचर, पृ० 19

रचनाकार में अपने को डालकर आलोचना लिखना एक कठिन साधना है। इसे वही लेखक कर सकता है जिसमें 'सहानुभूति' और स्नेहार्द्र दृष्टि' हो, जो 'नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय' का साक्षात्कार करने में समर्थ हो। सर्जनात्मक प्रतिभा और आलोचनात्मक चिन्तन का जैसा सन्तुलन द्विवेदी जी के कृतित्व में हुआ है वैसा आधुनिक काल के शायद ही किसी हिन्दी लेखक में हो और आधुनिक काल के किसी एक लेखक ने साहित्य को शायद ही उतनी कालजयी कृतियाँ दी हो जितनी अकेले द्विवेदी जी ने। द्विवेदी जी की कृतियाँ इस इस अर्थ में बेजोड हैं कि उनकी तुलना किसी अन्य लेखक की कृतियों से नहीं की जा सकती। 'कबीर' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसी कृतियों के लिए हिन्दी साहित्य को लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है।

द्विवेदी जी का साहित्य मनुष्य की विराट गरिमा का साहित्य है। वे मनुष्य को जड़ या पशु नहीं मानते। उसे विकास की अन्तिम परिणति स्वीकार करते हैं। इस मनुष्य में उनकी आस्था कभी खण्डित नहीं होती। वे मनुष्य की जययात्रा में अखण्ड विश्वास रखते हैं। शायद यही कारण है कि आज का नये-से-नया लेखक भी द्विवेदी जी की परम्पराप्रियता के बावजूद उन्हें स्वीकार करता है और उनकी प्रासंगिकता बनी रहती है। द्विवेदी जी की दृष्टि में यह मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। वे "सारे मानव-समाज को सुन्दर बनाने की साधना का ही नाम साहित्य"[1] मानते हैं। "जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुख-कातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में"[2] द्विवेदी जी को संकोच होता है। साहित्य का इतिहास भी, उनके अनुसार :

> "पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राण धारा की ओर सिर्फ़ इशारा भर करते हैं।"

द्विवेदी जी खण्ड सत्य को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण हो। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में अघोर भैरव कहते हैं :

> "देखो, विरति, सत्य अविभाज्य है। तुम्हारे बौद्ध दार्शनिकों ने संवृत्ति सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ सत्य कहकर उसे विभक्त

1. कल्पलता, पृ० 138
2. अशोक के फूल, पृ० 156

> करने का दम्भ फैलाया है। मानो ये दोनों परस्पर विरुद्ध हों। जो मेरा सत्य है वह यदि वस्तुत: सत्य है तो वह सारे जगत का सत्य है, व्यवहार का सत्य है, परमार्थ का सत्य है—त्रिकाल का सत्य है।"[1]

इस सत्य तक पहुँचने के लिए 'आत्मदान' जरूरी होता है :

> "अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक सर्व के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता, तब तक स्वार्थ खण्ड सत्य है; वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय कृपण बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है, वह स्पष्ट नहीं देख पाता, वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।"

इस आत्मदान की चर्चा द्विवेदी जी अपनी कृतियों में तथा अपने भाषणों में बार-बार करते हैं। उनके उपन्यासों के पात्र भी इसी को प्राप्त करने की ओर अग्रसर दिखाई देते हैं। और स्वयं द्विवेदी जी भी क्या इसी ओर उन्मुख नहीं हैं? क्या उन्होंने प्राचीन काव्य, दर्शन, ज्योतिष और संस्कृत के श्रेष्ठ साहित्य के अपने गहन अध्ययन को निचोड कर नहीं दे दिया है? मेरे ख्याल से तो हिन्दी को यही उनकी सबसे बडी देन है जिसे आधुनिक काल का कोई दूसरा साहित्यकार नहीं दे सकता था। उन्होंने बाणभट्ट और कालिदास को हिन्दी में उतार दिया है। उनके उपन्यासों में कादम्बरी, हर्षचरित, मृच्छकटिक, अभिज्ञानशाकुन्तलम् कुमारसम्भव आदि कृत्यों का रस लिया जा सकता है। उनके चिन्तन में संस्कृत की विशाल परम्परा का साक्षात्कार किया जा सकता है। कहना न होगा कि द्विवेदी जी के कृतित्व की जमीन पुरातन है लेकिन वे प्राचीन ज्ञान को नये आलोक में जाँचते-परखते हैं। जैसे शव साधना की पूर्णावस्था में शव का मुख साधक के सामने हो जाता है उसी प्रकार द्विवेदी जी भी अतीत का मुख वर्तमान की ओर मोड़ देते है। जो लोग द्विवेदी जी के साहचर्य में रहे हैं वे स्वीकार करेंगे कि उनके साथ रहना एक विशिष्ट अनुभव है। वे साधारण-सी बातचीत में भी शब्दों के अतीत में पैठकर उनके इतिहास से चमत्कृत कर देते हैं। इसी प्रकार अपने उपन्यासों में भी वे अतीत की—पुरानी समझी जानेवाली बातों की—नये आलोक में तार्किक व्याख्या करते हैं।

द्विवेदी जी मानव देह को बहुत महत्त्व देते है। उसे देवता का मन्दिर कहते हैं। उसे सभी साधनाओं का केन्द्र मानते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में सुचरिता कहती है :

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० 249

"मानव देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है, आर्य ! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मन्दिर है।"

इसीलिए द्विवेदी जी प्रवृत्तियों को दबाने की बात नहीं करते। वे कहते हैं कि उनको दबाना भी नहीं चाहिए और उनसे दबना भी नहीं चाहिए। वे किसी से भी न डरने की सलाह देते हैं :

"डरना किसी से भी नहीं। लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं।"

"देख बाबा, इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक अणु देवता है, त्रिपुर सुन्दरी ने जिस रूप में तुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है, उसी की पूजा करें।"

प्रवृत्तियों के दमन का विरोध द्विवेदी जी मध्यकालीन कवियों के मूल्यांकन-प्रसंग में भी करते हैं। 'सूर साहित्य' में वे गोपियों के स्वछन्द प्रेम का समर्थन करते हैं। भक्तिकाल के अन्य कवियों के प्रसंग में भी वे प्रेम को बहुत महत्त्व देते हैं। प्रेम भी एक प्रकार का विद्रोह है—सामंतवादी जड़ नैतिकता और वर्जना के विरुद्ध। द्विवेदी जी प्रेम को पाप नहीं मानते। भारतीय चिन्ताधारा के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वह ईसाई पाप-बोध को स्वीकार नहीं करती। 'अनामदास का पोथा' में द्विवेदी जी जीवन की महानता का साक्षात्कार प्रेम के द्वारा ही करते हैं। भगवती कहती है, "तुम्हारा स्वभाव प्रेम है। उसी के माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो।"

द्विवेदी जी अन्दर के देवता को बहुत महत्त्व देते हैं। वे अन्तर्यामी को ही प्रमाण मानते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाबा कहते हैं :

"देख रे, तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भूलने को कहते है ; जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं।"[1]

'अनामदास का पोथा' में महर्षि औपस्ति कहते हैं :

"किसी की बात पर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक स्वयं उसकी परीक्षा न कर ली जाए। तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध रूप से बैठे हैं उनको पहचानो। वे तुम्हारा ठीक मार्ग-दर्शन करेंगे। वही प्रज्ञा-रूप हैं।"[2]

अन्तर में बैठे देवता को द्विवेदी जी इतना महत्त्व देते हैं उसका यह अर्थ नहीं कि वे लोक की उपेक्षा करते हैं। बल्कि वे तो 'अनामदास का पोथा' में ही एकान्त के तप के स्थान पर समाज सेवा के मूल्य को जोरदार ढंग से प्रतिष्ठित करते हैं।

---

1. वही, पृ० 74
2. अनामदास का पोथा, पृ० 152

वस्तुत: वे ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु को देवता मानते हैं।"[1] उनके अनुसार :

> "सारा चराचर जगत उसी परम वैश्वानर का प्रत्यक्ष विग्रह है जिसका एक अंश तुम्हारे अन्तरतर मे प्रकाशित हो रहा है।"[2]

चिन्तन के इस स्तर पर पहुँचकर व्यक्ति और लोक में कोई विरोध नहीं रह जाता। इसीलिए द्विवेदी जी 'परम वैश्वानर' और 'महाअज्ञात' के प्रति समर्पण की बात करते हैं और सारे ज्ञान भण्डार को लोकमण्डल की कसौटी पर कसना चाहते हैं। 'लोक' और 'लोकमंगल' शब्द आचार्य शुक्ल के चिन्तन के सन्दर्भ में जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के सन्दर्भ में 'लोक' और 'लोकधर्म'। हिन्दी साहित्य की बहुत कुछ व्याख्या वे 'लोकधर्म' के ही आधार पर करते हैं। वे शास्त्र को लोक से जोड़ते है और शिष्ट साहित्य की जड़ों की तलाश के लिए बार-बार लोक की ओर उन्मुख होते हैं। 'आम फिर बौरा गए' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :

> "जब कभी लोक-परम्परा के साथ किसी पोथी का विरोध हो जाता है, तो मेरे मन में कुछ नवीन रहस्य पाने की आशा उमड़ उठती है। सब समय नयी बात सूझती नहीं ; पर हार मैं नहीं मानता। कभी-कभी तो बड़े-बड़े पण्डितों की बात में मुझे असंगति दिख जाती है। कहने में हिचकता हूँ, नये पण्डितों के क्रोध से डरता हूँ, पर मन से यह बात किसी प्रकार नहीं जाती कि पण्डित की बात की संगति लोक-परम्परा से ही लग सकती है। कहीं जैसे कुछ छूट रहा हो, कुछ भूल रहा हो।"[3]

द्विवेदी जी का चिन्तन मूलत: लोकधर्मी चिन्तन है। वे लोक-मानस को बहुत महत्त्व देते हैं। 'अनामदास का पोथा' में आचार्य पुरगोभिल कहते हैं :

> "सुन लिया धर्मावतार, हर गाँव, हर हाट, हर गली में ये गाने सुनाई देंगे। आज आप इसे केवल भाव-लोक का विद्रोह कहकर टाल सकते हैं। पर लोक-मानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़ मान्यताओं के प्रति यह भाव-लोक का विद्रोह किसी दिन वस्तुजगत के विद्रोह का रूप ले सकता है।"

पिछले अध्यायों में प्रसंगवश द्विवेदी जी के प्रगतिशील मानववादी विचारों की पर्याप्त चर्चा हुई है। उनके निबन्धों में, उनके उपन्यासों मे, उनकी आलोचना में—सर्वत्र यही दृष्टि दिखाई पड़ती है। इसी दृष्टि से उन्होंने साहित्य और

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० 74
2. अनामदास का पोथा, पृ० 132
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, पृ० 47

साहित्यकारों का मूल्यांकन किया है। यह दृष्टि उन्हें अपने अध्ययन से भी मिली थी और अपने युग से भी। उन्होंने प्राचीन भारतीय कालजयी कृतियों और कृतिकारों का गहन अनुशीलन किया था। मध्यकालीन हिन्दी सन्त भक्त कवियों को बड़ी रुचि से पढ़ा था। इनमें उन्हें प्रेम, करुणा, त्याग, साधना आदि के उच्चतर मानवीय मूल्य प्राप्त हुए थे। वे संस्कृत, ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शन, तन्त्र, काव्य-शास्त्र आदि के पण्डित थे। लेकिन साथ ही, आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों और शोधों से भी परिचित थे। वे सृष्टि के रहस्यों को, मनुष्य और उसके विकास को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने की कोशिश कर रहे थे। साथ ही अपने समय के दहाड़ते-फुफकारते, रोते-बिलबिलाते लोकचित्त को भी देख रहे थे। इन सबको मिलाकर उनकी जो दृष्टि बनी वह एक उदार, व्यापक, प्रगतिशील, आधुनिक मानववादी दृष्टि थी। रवीन्द्रनाथ और महात्मा गाँधी की मानववादी, समाजोन्मुख दृष्टि का प्रसाद उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया था। अपने समय के समाजवादी विचारों और आंदोलनों की जरूरतें भी उन्हें अर्थवान लग रही थीं। वे पुराने ज्ञान को नयी दृष्टि से और नये ज्ञान को पुरानी दृष्टि से पहचानने में पूरी तरह समर्थ थे। भारतीय मनीषा ने जीवन के बारे में जो शाश्वत निष्कर्ष दिए है उनके प्रति द्विवेदी जी के मन में आदर है। लेकिन वे भारतीय चिन्तन के प्रति अंध श्रद्धालु नहीं हैं। वे ज्ञान-विज्ञान के नये आलोक में अपने प्राचीन शास्त्र-ज्ञान का परीक्षण करते हैं। भारतीय परम्परा के प्रति उनका आदर भाव उनके मनोलोक को संकीर्ण नहीं बनाता बल्कि एक विश्व दृष्टि देता हैं। वे अपनी 'जन्मभूमि' और अपने 'ठाकुर जी की बटोर' की छोटी-सी समस्या तक को विश्व की समस्याओं के सन्दर्भ में रखकर विचार करते है। संस्कृति के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि द्विवेदी जी देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठकर मानव संस्कृति की बात करते हैं। संस्कृति, उनके अनुसार सम्पूर्ण समष्टि मानव के कल्याण के लिए है, वह निर्मात्री शक्ति है जो सड़ी-गली चीजों को छोड़ती जाती है और आवश्यक को ग्रहण करती है।

यह कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी के सारे चिन्तन के केन्द्र में 'मनुष्य' है। मानव-समाज को सुन्दर बनाने की साधना का ही नाम उनकी दृष्टि में 'साहित्य' है। 'जीवेत शरदः शतम्' शीर्षक निबन्ध में वे ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता महसूस करते हैं जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जरूरत भर का अन्न, वस्त्र और शिक्षा मिल जाय और उसे जितने की जरूरत है उससे अधिक संग्रह करने का अवसर न मिले। जब सामूहिक रूप से ऐसी कोई व्यवस्था हो जाएगी तभी मनुष्य का ध्यान छोटी-छोटी चीजों से हटकर बड़ी चीजों की ओर उन्मुख होगा। लेकिन इसी निबन्ध में वे यह भी महसूस करते हैं कि आज जब हम सामूहिक शिक्षा, सामूहिक सुरक्षा आदि की ओर अग्रसर होने को बाध्य हो गए हैं तो हमें सामूहिक रूप से

'जनता के चरित्र बल' को सुरक्षित करने की व्यवस्था भी प्रयत्नपूर्वक करनी होगी।[1] यही द्विवेदी जी की 'सन्तुलित दृष्टि' है। द्विवेदी जी किसी भी दृष्टि से चाहे वह पुरानी हो या आधुनिक, भारतीय हो या पाश्चात्य, आक्रान्त नहीं हैं। वे उन परजीवी बुद्धिजीवियों के सबसे बड़े उत्तर हैं जो बिना पश्चिम को उद्धृत किए अपने को छूँछा समझते है और हर विचार के लिए पश्चिम दिशा में थूथन उठाकर सूँघते रहते हैं।

द्विवेदी जी मानते हैं :

> "विभिन्न युगों मे साहित्यिक साधनाओं के मूल मे कोई न कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास मानवतावाद है।···नवीन मानवतावादी विश्वास की सबसे बड़ी बात है इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्त्व की मर्यादा का बोध।"[2]

स्वय द्विवेदी जी की दृष्टि मानवतावादी है किन्तु उनका मानवतावाद किसी पार्टी के निर्देश मे संचालित नही होता। 'हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास' में 'प्रगतिवाद' पर लिखते हुए वे कहते है :

> "इस नए तत्त्व दर्शन से प्रभावित होकर अनेक लेखकों और कवियों ने लेखनी सम्हाली है। इसमे दो श्रेणी के लेखक हैं। एक तो वे जो कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित है और पार्टी की निर्धारित नीति और अगुली निर्देश पर साहित्य लिखते हैं। दूसरे वे जो पार्टी से सम्बन्धित नही है, पर इन विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं।··· कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारों का सम्बन्ध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन के मार्ग में आना हितकर नहीं हो सकता। कई प्रगतिवादी लेखक पार्टी के अंकुश को बर्दाश्त न कर सकने के कारण उससे अलग हो गए है। भविष्य मे या तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारो से वचित रहना पड़ेगा।"[3]

वस्तुत: द्विवेदी जी आधुनिक जड़ विज्ञान और यन्त्र विज्ञान को मनुष्य के लिए उपयोगी मानते है, पर अपनी एक शर्त के साथ। वह शर्त है चित् तत्त्व की स्वीकृति। उन्ही के शब्दों मे :

> "जो विचार और प्रयत्न केवल स्थूल जगत को दृष्टि मे रखकर किया

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, पृ० 64
2. विचार और वितर्क, पृ० 90
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-3, पृ० 533

जाता है, वह स्थूल होता है और द्वन्द्व और संघर्ष को पैदा कर सकता है। परन्तु जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह कोई नहीं कहता कि जड़ विज्ञान द्वारा प्राप्त सुविधाएँ मनुष्य को सुखी और समृद्ध नहीं बना सकती ; किन्तु प्रयत्न जड़ोन्मुख नहीं होना चाहिए, चिन्मुख होना चाहिए। यदि जड़ ही लक्ष्य हो जाएगा, तो वह मनुष्य की वास्तविक मनुष्यता को ही दबोच देगा। मनुष्य का समस्त आहार-विहार, समस्त मन और प्राण चिन्मुख होकर सार्थक होता है, जड़ोन्मुख होकर अपने लिए और दूसरों के लिए कष्टकारक होता है। शरीर भी जड़-प्रकृति का विकार है, मन भी, बुद्धि भी। और बाह्य प्रकृति में दृश्यमान पदार्थ तो जड़ है ही। चित् के संयोग के द्वारा ही इनमें विभिन्न गुणों का विकास हो रहा है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में द्विवेदी जी के विचार दो टूक हैं। कहीं किसी लाग-लपेट की गुंजाइश नहीं है। यही द्विवेदी जी की सन्तुलित दृष्टि है। 'सन्तुलित' शब्द भी किसी को भ्रम में न डाले, इसलिए द्विवेदी जी उसकी भी व्याख्या कर देते हैं। 'समीक्षा में सन्तुलन का प्रश्न' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं :

"संतुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्यम-मार्ग खोजती-फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग-तरल विचार धारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषी की दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती है। वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।"[2]

द्विवेदी जी के उपर्युक्त कथन का प्रमाण यह है कि रचना और सोच की दिशा में वे जिस बिन्दु तक पहुँचे, उसे उन्होंने अपनी यात्रा का अन्त नहीं माना। उनके लेखन में बराबर एक बेचैनी और कसमसाहट दिखाई पड़ती है—कुछ अधिक कहने की, कुछ अधिक जानने और सोचने की आकुलता तथा उद्विग्नता। यह बेचैनी ही एक रचनाकार को सूखने और मरने नहीं देती। कुछ सिरजकर ही वह मृत्यु को

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-5, पृ० 200
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-10, पृ० 142

ठेलता रहता है। द्विवेदी जी की सर्जनात्मकता कभी समाप्त नहीं हुई। वे जीवन भर चीजों को रचने और समझने के लिए व्याकुल रहे :

> "जिस भाषा का अर्थ समझ में नहीं आया, उसका अर्थ है ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है। यह आकाश भरा तारक-मण्डल, उल्लास-मुखर चंचल पवन, उद्धूम अग्निशिखा से तुलना करनेवाला संध्या-कालीन गिरिकुहर सबका अर्थ होना चाहिए। समझ में नहीं आ रहा है। कितना समझ पाया हूँ ? इस विपुल ब्रह्मांड में जो कोलाहल सुनाई दे रहा है वह क्या निरर्थक है ? वह जो जय-पराजय की विलक्षण महत्त्वाकांक्षा है, वह क्या ऊपर-ऊपर से जैसा सुनाई दे रहा है, वैसा ही है ? नहीं, गहराई मे कुछ और होना चाहिए।·· कुछ और है, कुछ और है। पर क्या है ? सीमाबद्ध मस्तिष्क की तरंगे पछाड़ खा-खाकर तीर पर सिर मार रही हैं—कुछ और है, पर क्या है ?"
>
> (चारुचन्द्रलेख)

हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण चिन्तन शास्त्रीय (क्लासिकल) गरिमा लिए हुए है। वे मानव-विकास के इतिहास को ध्यान मे रखते हुए, मानवता के बुनियादी मर्म को सहेजते हुए, कालजयी कृतियों और शास्त्रीय ग्रन्थों का मथन करते हुए साहित्य के प्रश्नों पर बड़ी गम्भीरता से विचार करते हैं। यह उनके चिन्तन की स्वाभाविक विशेषता है और इसी अर्थ में द्विवेदी जी 'आचार्य' हैं।

द्विवेदी जी ने यद्यपि साहित्य शास्त्र सम्बन्धी कोई अलग व्यवस्थित ग्रन्थ नहीं लिखा फिर भी जितना कुछ छिट-पुट और बिखरे तौर पर उन्होंने इस विषय पर लिखा है वह उनके गम्भीर पांडित्य, मौलिक चिन्तन और उनकी सूक्ष्म पकड़ को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है।

सन् 1930-31 में द्विवेदी जी ने साहित्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखने का सकल्प किया था। यह ग्रन्थ लगभग 73 पृष्ठ लिखा गया किन्तु किन्हीं कारणों से पूरा न हो सका न द्विवेदी जी के जीवनकाल में प्रकाशित ही हो पाया। यह ग्रन्थ 'सूर-साहित्य' के पहले लिखा गया था।[1] द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ को कोई नाम नहीं दिया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने निम्नलिखित बारह शीर्षकों में काव्यशास्त्र के विभिन्न अगों का विवेचन किया है—1. सुदूर अतीत के धुँधलके में, 2. भरतसूत्र के व्याख्याता, 3. लोल्लट आदि आचार्य, 4. ध्वनि सम्प्रदाय, 5. ध्वनि का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ?, 6. शब्द की वृत्तियाँ, 7. ध्वनि का व्यंग्यार्थ, 8. ध्वनि के विरोधी, 9. रीति, गुण और दोष, 10. कविता का भेद, 11. अलकार, 12. रस और भाव आदि। द्विवेदी जी का यह साहित्य शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ सामग्री और

---

1. दे० 'दस्तावेज'-12, डा. रामचन्द्र तिवारी का लेख, पृ० 35-41

मौलिकता की दृष्टि से यद्यपि बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है और अधूरा भी है फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि यह द्विवेदी जी का पहला ग्रन्थ है।

'नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा' शीर्षक अपने लम्बे निबन्ध में द्विवेदी जी ने आधुनिक विद्वानों के मतों को तो उद्धृत किया है पर भारतीय नाटकों के विकास में बाह्य प्रभाव की बात स्वीकार नहीं की है। उनके अनुसार 'नाट्यशास्त्र' के विकास में किसी विदेशी परम्परा का सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। यह परम्परा भारत मे बहुत पुरानी—ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है।

'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' शीर्षक अपने शोधपूर्ण ग्रन्थ में द्विवेदी जी ने गुप्तकाल के कुछ सौ वर्षों पूर्व से लेकर कुछ सौ वर्षों बाद तक के उपलब्ध साहित्य के आधार पर उस युग के कला-विनोद का—विविध कलाओं का अनूठा परिचय दिया है। द्विवेदी जी के अनुसार भारतीय इतिहास का यह वह युग था जब भारतवासियों ने जीने की कला का आविष्कार किया था। उस समय इस देश में एक समृद्ध नागरिक सभ्यता थी जो सौन्दर्य की सृष्टि, उसके रक्षण और सम्मान मे अप्रतिम थी। उस समय के काव्य, नाटक, आख्यान, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदि आज के भारतीय को विस्मय-विमुग्ध कर देते हैं। द्विवेदी जी ने इसी महत्त्वपूर्ण युग के कला-विनोद को हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन के सिलसिले में वे विलासिता और कलात्मक विलासिता में अन्तर करते हैं। उन्हीं के शब्दों में :

> "थोथी विलासिता मे केवल भूख रहती है—नंगी बुभुक्षा; पर कलात्मक विलासिता संयम चाहती है, शालीनता चाहती है, विवेक चाहती है।...जो जाति सुन्दर की रक्षा और सम्मान करना नही जानती वह विलासी भले ही हो ले, पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं बदा होता।"[1]

द्विवेदी जी के कला सम्बन्धी बुनियादी दृष्टिकोण को समझने के लिए उनका 'लालित्य तत्त्व' सम्बन्धी अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'लालित्य तत्त्व' नामक अपनी पुस्तक मे द्विवेदी जी ने सौन्दर्य तत्त्व पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने 'सौन्दर्य तत्त्व' को 'लालित्य तत्त्व' कहा है। इस सन्दर्भ मे वे लिखते हैं :

> "मनुष्य की इच्छा शक्ति जब सर्जनात्मक रूप ग्रहण करती है तो भारतीय शास्त्रों मे उसे विश्वव्यापिनी सर्जनात्मक शक्ति 'ललिता' का व्यष्टिगत रूप कहा जाता है। विश्व ब्रह्माड मे व्याप्त सर्जना-शक्ति का ही वह पिण्ड मे प्रतिनिधित्व करती है। शाक्त आगमों में

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-7, पृ० 366

बताया गया है कि सच्चिदानन्द महाशिव की आदि सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) ही विश्व में शक्ति रूप में विद्यमान है। प्रलय काल में महाशिव निष्क्रिय रहते हैं। इस समय महामाया समस्त जगत प्रपंच को आत्मसात करके विराजती रहती है। जब शिव को लीला की लालसा होती है तो यही महाशक्ति रूप महामाया जगत को प्रपंचित करती है। शिव की लीला सखी होने के कारण ही उन्हें ललिता कहते हैं।···सत्पुरुषों के हृदय में निवास करनेवाली ललिता ही वह शक्ति है जो मनुष्य को नयी रचनाओं के लिए प्रेरित करती है। इसलिए इस परम्परा-गृहीत अर्थ मानव रचित सौन्दर्य को 'लालित्य' कहना उचित ही है। 'ललिता सहस्रनाम' में इस देवी को 'चित्कला', 'आनन्दकलिका', 'प्रेमरूपा', 'प्रियंकरी', 'कलानिधि', 'काव्यकला', 'रसज्ञा', 'रस शेवधि' आदि कहकर पुकारा गया है। जहाँ कहीं मानव-चित्त में सौन्दर्य का आकर्षण है, सौन्दर्य रचना की प्रवृत्ति है, सौन्दर्यास्वादन का रस है, वही यह देवी क्रियाशील है। इसलिए भी हमारे आलोच्य शास्त्र का नाम 'लालित्य शास्त्र' ही हो सकता है।"[1]

लालित्य तत्त्व सम्बन्धी अपने इस खोजपूर्ण अध्ययन के सिलसिले में द्विवेदी जी विदेशी विद्वानों द्वारा किए गए गम्भीर खोजों का हवाला देते हैं। ससार की विविध आदिम जातियों की प्रथाओं की जानकारी से जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, धर्म विज्ञान आदि के बारे में जो नया प्रकाश पड़ा है, मानव विज्ञान ने मानव चित्त के रहस्यों की जो नई जानकारी दी है, नृतत्त्व विज्ञान ने मानव शरीर के विविध अवयवों पर जो शोधपूर्ण कार्य किए है उन सबके प्रकाश में द्विवेदी जी अपने परम्परा प्राप्त ज्ञान को जाँचते-परखते चलते हैं। इस सन्दर्भ में वे सर जेम्स जी. फ्रेज़र, एडवर्ड वेस्टर मार्क, डा. कर्ट शैक्स, सुसान के. लैंगर, अर्न्स्ट कैसिरर, मैक्समूलर, फ्रांक थीस, हर्सकोवित्स, अलेक्जेंडर कोजेन, आयान रौलिन्स आदि विद्वानों के गम्भीर शोधों का हवाला देते हैं। लेकिन द्विवेदी जी पश्चिमी विद्वानों के इन शोधों से आक्रांत नहीं हैं। इन पश्चिमी विद्वानों के गम्भीर शोधों को वे भारतीय ऋषियों, कवियों और आचार्यों के विचारों के साथ रखकर देखते हैं। वे उपनिषदों के ऋषियों को, कालिदास, भरतमुनि, अभिनवगुप्त और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उद्धृत करते हुए प्रायः प्राचीन भारतीय चिन्तन को ही पुष्ट करते हैं। उनकी दृष्टि पर भारतीय शैव, शाक्त, तांत्रिक दृष्टि का गम्भीर प्रभाव है। कवियों में कालिदास और रवीन्द्रनाथ को वे प्रायः स्मरण करते हैं। वे नार्मल के

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खण्ड-7, प्रस्तावना, पृ० 34-35

लिए 'नर्म', 'एब्नार्मल' के लिए 'अपनिर्मल', 'मिथ' के लिए 'मिथक', 'लीजेन्ड्री' के लिए 'निजन्धरी' जैसे हिन्दी शब्द भी गढ़ते हैं। इस अध्ययन में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव चित्त एक है। आदिमानव की कल्पना और रूप सृष्टि के मूल में भय की भावना नहीं है बल्कि आनन्द और मंगल की भावना है। चैतन्य की सीमाहीन अभिव्यक्ति की व्याकुलता लालित्य तत्त्व का मूल उत्स है। सर्वत्र मनुष्य ने उल्लास चंचल होकर जड़ता के बन्धनों पर विजय पाने का प्रयास किया है। मनुष्य के इस उल्लास की प्रथम अभिव्यक्ति नृत्य के माध्यम से हुई है। लगभग सभी आदिम जातियों में मण्डलावर्त्त नृत्य पाया जाता है।

वाक्तत्त्व का प्रथम उन्मेष मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रथम स्पष्ट विस्फोट है जो शुरू में पद और पदार्थ के सम्पृक्त रूप में रहा होगा। बाद में, पद और पदार्थ का विवेक स्पष्ट हुआ। वाक्तत्त्व के साथ-ही-साथ मिथक तत्त्व का आविर्भाव हुआ। बाह्य पदार्थ को भाव रूप में ग्रहण करना और गृहीत भाव को अभिव्यक्त करना मनुष्य की ही विशेषता है। भाव रूप में ग्रहण करना इच्छा और गृहीत भाव को पुनः अभिव्यक्त करना क्रिया है। मनुष्य के भीतर जो चैतन्य है वह अपनी इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति के माध्यमों से द्रष्टव्य के स्वरूप को ग्रहण करता है। किन्तु कोई भी रूपाकार—चाहे वह शब्द शिल्पी हो, चित्र शिल्पी हो या मूर्ति शिल्पी—किसी वस्तु को विशुद्ध विषय-परक रूप में नहीं ग्रहण कर पाता। द्रष्टा के भीतर सदा कोई सर्जक विद्यमान होता है। जहाँ अर्थ नहीं है वहाँ भी अर्थ खोज लेने की रहस्यमयी शक्ति मानव आत्मा में विद्यमान है। वह बादलों के अस्त-व्यस्त महलों में मूर्ति बना लेता है, दीवार के अनगढ़ धब्बों में भी चित्र खोज लेता है, आकाश-मण्डल में फैले हुए नक्षत्रों में 'मेष', 'वृष' या 'सिंह' की आकृति का साधन पा लेता है, बेतरतीब उगी हुई वनराशि में देवीमूर्ति की कल्पना कर लेता है—वह निपुण स्रष्टा है। वह प्रत्येक पदार्थ को अपनी अनुभूति की भाषा में रूपांतरित करता रहता है। कलाकार रचना करने के पहले कुछ जानता है और कुछ देखता है और फिर बाद में उस मन-ही-मन रची वस्तु को नये सिरे से स्थूल इन्द्रियग्राह्य रूप देता है। इस इन्द्रियग्राह्य स्थूल रूप में रचने की शक्ति केवल मनुष्य में है जो उसे अन्य सभी जीवों से अलग कर देती है।

द्विवेदी जी के अनुसार बाह्य तथ्यात्मक जगत के साथ संघर्ष के क्रम में मनुष्य ने प्रयोजनवश संगीतात्मक ध्वनियों को छोड़कर गद्यात्मक भाषा का सहारा लिया। सामान्य प्रयोजनों को पूर्ण करनेवाली यह गद्यात्मक भाषा दो व्यवस्थाओं से बँधी होती है—एक तो तथ्यात्मक जगत की बाह्य व्यवस्था से और दूसरी अपनी ही व्याकरणात्मक और वाक्य-विन्यासमूलक व्यवस्था से। कविता इन दोनों व्यवस्थाओं को स्वीकार करते हुए भी अपनी एक तीसरी व्यवस्था—छन्द, लय, यति, तुक आदि का भी सहारा लेती है। द्विवेदी जी के अनुसार कविता का एक आयाम

है—काल। चित्र के दो हैं—लम्बाई और चौड़ाई। मूर्ति के तीन हैं—लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई। बाह्य जगत की सत्ता चार आयामों में है—लम्बाई, चौडाई मोटाई और काल। कलाकार बाह्य जगत की सत्ता को जिस कौशल से कलाओं मे अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है उसे अन्यथाकरण या अंग्रेज़ी में 'डिस्टॉर्शन' कहते हैं। इस प्रक्रिया में कलाकार को बाह्य जगत से जितना मिलता है, उसमे वह अपनी ओर से कुछ जोड़ता है। यही उसकी रचनात्मक शक्ति है। कविता चार आयामों के जगत को केवल एक आयाम में बदलने का प्रयत्न करती है। वह काल में प्रवाहित होती है और देश में स्थिति प्राप्त करती है। यह बात उसे अन्य कलाओं से अलग कर देती है।

द्विवेदी जी के अनुसार आदिम मनुष्य विभिन्न परिस्थितियों में अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए विशेष प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करता रहा होगा। ये ध्वनियाँ एक मिश्रित अविभक्त प्रवाह मात्र थीं। बाद में मनुष्य ने इनको अलग-अलग विभाजित करके विवेकपूर्वक विविक्त वर्णों वाली भाषा को जन्म दिया। उसने ध्वनि-प्रतीकों या शब्दों का निर्माण किया। यह विविक्तीकरण का प्रयास मानव का रचनात्मक प्रयास है। वर्णों के विविक्तीकरण की यह प्रक्रिया बाह्य जगत के पदार्थों में भी भेद करने की प्रक्रिया के साथ-साथ शुरू हुई होगी। इस प्रक्रिया में हज़ारों वर्ष लगे होंगे। लेकिन एक बार इस प्रक्रिया को पा लेने के बाद मनुष्य के सोचने, समझने और सर्जनात्मक कार्यों में प्रवृत्त होने मे बड़ी तेज़ी आ गई। इसी से मनुष्य सभ्यता की ओर उन्मुख हुआ। नई वस्तु और नए भाव के लिए नए शब्दों की रचना होने लगी। मनुष्य निरन्तर अर्थ की ओर बढ़ता चला गया। जैसे-जैसे मनुष्य की भाषा अर्थप्रधान होती गई वैसे-वैसे उसका स्वरूप गद्यात्मक होता गया। छन्द, राग और लय क्रमशः पीछे छूटते गए। मनुष्य ने इस छूटी हुई चीज़ को भी पूरा किया। उसने रागों और वृत्त छन्दों की उद्भावना की। एक और तत्त्व जो छूट गया था, उसे भी भाषा के माध्यम से समेटने का प्रयत्न किया गया जिसे द्विवेदी जी ने 'मिथक तत्त्व' कहा है। द्विवेदी जी के अनुसार मिथक तत्त्व वस्तुतः भाषा का पूरक है।

द्विवेदीजी के अनुसार विविक्त वर्णों वाली भाषा के शब्द एक प्रकार के प्रतीक होते हैं। उनका अर्थ बाह्य जगत में होता है, अन्तर्जगत मे भी हो सकता है। पर शब्द इन दोनों प्रकार के अर्थों की सूचना भर देते हैं। इसीलिए आधुनिक विचारक इसे शब्द प्रतीकात्मिका भाषा कहते हैं। द्विवेदी जी ने आधुनिक काल के महान भाषा-दार्शनिक अर्न्स्ट कैसिरर को उद्धृत करते हुए कहा है कि उनके अनुसार मनुष्य एक मात्र प्राणी है जो प्रतीकों का निर्माण करता है। द्विवेदी जी के अनुसार मनुष्य को प्रतीक-निर्माता कहने का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि उसका चित्त विवेकदक्ष है। वह एक प्रकार की ध्वनि को दूसरे प्रकार की ध्वनि से, एक

प्रकार के गीत स्वर को दूसरे प्रकार के गीत स्वर से और एक प्रकार की भावना को दूसरे प्रकार की भावना से विवेकपूर्वक अलग कर सकता है। यह विविक्तीकरण और यथेष्ट सर्जनात्मक उद्भावना ही मनुष्य की वास्तविक विशेषता है।

द्विवेदी जी के अनुसार वर्ण निश्चित अर्थ को प्रकट करने के लिए निश्चित प्रकार का प्रयत्न चाहते हैं। ज्ञात ध्वनियों का मनमाना संयोजन वांछित अर्थ देने में समर्थ नहीं हो सकता। विभिन्न वर्णों के संयोजन से जो शब्द बनते हैं उनका संकेतित अर्थ समाज चित्त की स्वीकृति चाहता है। ज्ञात ध्वनियों के इस विनयन को, जिससे ठीक अर्थ प्रकट हो सके, द्विवेदी जी विनायक धर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में अर्थ-प्रकाश केवल वाक्तत्त्व के आश्रित नहीं है, उसमें विनायक धर्म भी होना चाहिए। वर्ण वाक्तत्त्व के अवयव हैं और अर्थ विनायक धर्म द्वारा संयोजित वर्णसमूह से प्रकाश्य होता है। वस्तुतः वर्णसमूह का ऐसा संयोजन जो समाज चित्त में गृहीत होने योग्य अर्थ देने में समर्थ हो, विनायक धर्म है। द्विवेदीजी के अनुसार कला में प्रेषणधर्मी वाक्तत्त्व और मंगलादेशी विनायक धर्म—दोनों आवश्यक तत्त्व हैं। किसी एक की उपेक्षा करने से काव्य या कला विराट और उदात्त बनने में चूक जाती है।

द्विवेदी जी के अनुसार सृष्टि में सर्वत्र आत्माभिव्यक्ति का प्रयास दिखाई देता है। यह आत्माभिव्यक्ति का प्रयत्न मनुष्य की भी विशेषता है। वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को विश्वजनीन बनाने के लिए व्याकुल होता है। मानवात्मा के भावावेग को सर्वसाधारण तक पहुँचाने की जो विकलता है उसे ही 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' कहा जाता है। यह विकलता ही सिसृक्षा का रहस्य है। लेकिन द्विवेदी जी यहीं नहीं रुकते। वे इसके भी आगे बढ़कर यह प्रश्न करते हैं कि यह व्याकुलता क्यों है? क्या इसके पीछे कोई विराट शक्ति क्रियाशील है? द्विवेदी जी बार-बार उस 'विराट शक्ति' की, उस 'अदृश्य शक्ति' की, 'विश्वात्मा' की, 'महाएक' की चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं:

> "शास्त्रकार और योगी कहते हैं कि यह समूचा चराचर जगत अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल में शब्द है। ठीक है। पर, अर्थ क्या केवल अर्थ है, वह अपने आप में क्या भाषा नहीं है? यह जो प्रातःकाल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती हैं, चन्द्रकिरणें शाम को रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती हैं, ये क्या केवल अर्थ हैं? ये क्या कुछ कह नहीं जातीं? किसके लिए यह आयोजन है? इतना रंग, इतना राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता जो जगत में प्रतिक्षण उद्भासित हो रही है, वह क्या विविक्तवर्णा भाषा द्वारा आदृत अर्थमात्र है? बीज जब अंकुर-रूप में फटता है, तब क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलता रहता? रात को आसमान में जो

इतनी लालटेनें निकल पड़ती हैं, वे क्या निरर्थक हैं ? किसी को खोजने की व्याकुल वेदना क्या उसमें नहीं सुनाई पड़ती ? कवि जो भाषा सुना करता है, वह क्या केवल पागलपन का विकल्प मात्र है ? जो लोग अपने को विशिष्ट विज्ञान के अधिकारी घोषित करते हैं वे क्या सबका ठीक-ठीक मतलब समझा सकते है ? कौन बताएगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से चित्त में पर्युत्सुकी भाव क्यों आ जाता है ? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा हैं, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत जो इतना रागमय है, छन्दोमय है, वर्णमय है, वह क्या व्यर्थ है ? व्यर्थ, अर्थात अर्थशून्य, निरर्थक ! नहीं। इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है। भाषा व्यापक रूप ग्रहण करती रहती है। शास्त्रकार या योगी नहीं बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति इतना व्याकुल कम्पन उठा करता है, वह परम शक्ति की किस विलास लीला की अभिव्यक्ति है ?"[3]

इस प्रकार 'लालित्य तत्त्व' सम्बन्धी अपने अध्ययन में द्विवेदी जी कला के बुनियादी सवालों पर अपना गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। द्विवेदी जी का यह चिंतन आत्मवादी है। वे समस्त सृष्टि में व्याप्त उद्दाम चंचल जीवनी शक्ति का दर्शन करते हैं। इसी दृष्टि मे वे 'कलाकार की सिसृक्षा और सर्जन सीमा' तथा 'सिसृक्षा के स्वरूप' पर विचार करते हैं। द्विवेदी जी मानव के विकासात्मक ऐतिहासिक तथ्य को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मनुष्यता ने जो कुछ भी उपलब्ध किया है अपने सहज विकास-क्रम में निरन्तर संघर्ष करते हुए उपलब्ध किया है। इसी दृष्टि से वे 'लालित्य सर्जना और विविक्तवर्णा भाषा' पर विचार करते हैं। द्विवेदी जी कला सर्जना के मूल मे केवल सम्प्रेषण को ही नहीं मंगल की चेतना को भी स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से वे 'वाक्तत्त्व और विनायक धर्म' की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार 'लालित्य तत्त्व' सम्बन्धी द्विवेदी जी का यह चिन्तन भारतीय परम्परागत चिन्तन को अद्यतन ज्ञान-विज्ञान और आज तक के उपलब्ध विभिन्न शोधपूर्ण अध्ययनों के प्रकाश में जाँचने-परखने की कोशिश है। अपनी इस सूक्ष्म बौद्धिक दृष्टि से वे भाषा, मिथक, छन्द, राग, लय, नृत्य, संगीत, काव्य, मूर्तिकला, चित्रकला आदि पर अपना स्पष्ट मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। इस चिन्तन में कला के गहरे जटिल रहस्यों को सुलझाकर समझने और समझाने की एक ऐसी गम्भीर कोशिश है जो द्विवेदी जी के 'सृजनशील' और 'आचार्य' दोनों रूपों को सामने लाती है।

1, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली : खण्ड-7 : पृ० 91

परिशिष्ट

हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचनाएँ

उपन्यास

1. बाणभट्ट की आत्मकथा
2. चारुचन्द्रलेख
3. पुनर्नवा
4. अनामदास का पोथा

निबन्ध

1. अशोक के फूल
2. विचार और वितर्क
3. कल्पलता
4. कुटज
5. आलोक पर्व
6. विचार-प्रवाह

शोध, आलोचना और इतिहास-ग्रन्थ

1. सूर-साहित्य
2. हिन्दी साहित्य की भूमिका
3. कबीर
4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल
5. हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास
6. मध्यकालीन बोध का स्वरूप
7. सहज-साधना
8. मध्यकालीन धर्म-साधना
9. नाथ सम्प्रदाय
10. सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण
11. मेघदूत : एक पुरानी कहानी
12. कालिदास की लालित्य योजना
13. मृत्युंजय रवीन्द्र

14. लालित्य तत्त्व
15. साहित्य का मर्म
16. साहित्य का साथी
17. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद

अन्य

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (ग्यारह खण्ड)
2. पत्र : हजारीप्रसाद द्विवेदी : सं० मुकुन्द द्विवेदी

सहायक सामग्री

1. शांतिनिकेतन से शिवालिक : (सं०) शिवप्रसाद सिंह
2. दूसरी परम्परा की खोज : नामवर सिंह
3. उपन्यासकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : त्रिभुवन सिंह
4. दस्तावेज़ 5/6 (हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक) : (सं०) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी